

# भारतीय इतिहास लेखन की विकृतियां : तथ्यों के आइने में

लेखक

प्रो. सतीश चन्द्र मित्तल सेवानिवृत्त  
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र



**पंचनद शोध संस्थान**  
**चण्डीगढ़**

आमुख

किसी भी देश की वर्तमान पीढ़ी अपने अतीत से प्रेरणा प्राप्त कर भविष्य का निर्माण करती है। प्रेरणा में इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए इतिहास का सच्चा शोध जरूरी है, कि इतिहास व्यक्ति और राष्ट्र की चेतना को निर्धारित करता है। सही इतिहास का ज्ञान राष्ट्र को जीवंत बना सकता है तो उसका विकृत स्वरूप राष्ट्र के भविष्य को गर्त में ढकेल सकता है। इतिहास केवल विवरण नहीं होता, बल्कि वह राष्ट्र के उत्थान-पतन, सफलता-असफलता के कारणों को खोजता-जाँचता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इतिहास के दर्पण में वर्तमान की मुखकृति को देखकर भविष्य की रूपरेखा तैयार होती है।

वैसे इतिहास का अध्ययन और उसका सही आकलन अद्यतन युग से विवाद का विषय है। इतिहास के आकलन और लेखन में भारत की स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण रही है। भारतीय इतिहास का लेखन यूरोपीय इतिहासकारों के द्वारा ज्यादा हुआ है। यूरोपीय इतिहासकारों ने जिस अभारतीय दृष्टिकोण से भारतीय वाङ्मय, संस्कृति और सभ्यता का मूल्यांकन किया है, वह उनके अपने पूर्वाग्रह और स्वार्थों से ग्रस्त रही है। यही कारण है कि भारतीय पुराणों, ग्रंथों जैसे रामायण और महाभारत को मिथक या कल्पना बताते हुए खारिज करने का प्रयास किया गया। यदि आजादी के पहले यूरोपीय और अंग्रेज इतिहासकारों ने यह कुचेष्टा की, तो आजादी के बाद साम्यवादी और कथित सेक्यूलरवादी सोच के इतिहासकारों ने भी भारतीय इतिहास-बोध को दूषित और विकृत बनाने में राष्ट्रीय अस्मिता को कमजोर करने में कोई कम कसर नहीं छोड़ी है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रो. सतीशचन्द्र मित्तल ने भारतीय इतिहास की विसंगतियों और विडम्बनाओं की ओर हमारा ध्यान काफी गंभीर तरीके से खींचा है। प्रो. मित्तल ने वर्षों से चली आ रही इतिहासबोध की भ्रामक धारणाओं को बड़े ही प्रमाणिक तर्कों और संदर्भों से बदलने की पैरवी की है। अपने इस प्रयास के लिए प्रो. मित्तल निश्चित ही साधुवाद के पात्र है।

पंचनद शोध संस्थान, इस प्रामाणिक पुस्तक को प्रस्तुत करते हुए गौरवान्वित है। हमें विश्वास है कि हमारा प्रयास भारतीय जनमानस को स्पंदित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा और भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय अस्मिता के प्रति गर्व का भाव उत्पन्न करेगा।

प्रो. बी. के. कुठियाला

## प्राक्कथन

भारत की प्राचीनतम सभ्यता तथा ब्रिटिश तथा यूरोपीय जगत की आधुनिक सभ्यताओं में इतने हजारों वर्षों का अन्तराल है कि विदेशियों का पहले आश्चर्यचकित फिर सशंकित तथा बाद में भयभीत हो जाना स्वाभाविक है। बाईबिल के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति, पृथ्वी का जन्म, मनुष्य की विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति, सभी दृष्टि से उनकी अधूरी सोच तथा कल्पनाओं को विचलित कर दिया। ब्रिटिश प्रशासकों तथा इतिहासकारों का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश राज्य को दृढ़ करना, भारत को एक ईसाई देश बनाना, भारत को स्थायी ब्रिटिश कालोनी बनाना तथा व्यक्तिगत रूप से धन प्राप्त करना तथा पदों में उन्नति था। इन कार्यों में ईसाई पादरियों का समूह हमेशा उनका सहायक रहा। अतः उन्होंने योजनाबद्ध तरीके से भारत के विश्वव्यापी धर्म तथा सांस्कृतिक चिंतन तथा चेतना को विकृत किया, विसंगतिपूर्ण बनाया तथा बिना तथ्यों अथवा प्रमाणों के उसके इतिहास को तोड़ मरोड़ कर, लीपा, पोती कर, काल्पनिक तथा ऐच्छिक विश्लेषण किया।

स्वतंत्रता के पश्चात भी, भारत ने विश्व के अनेक देशों की भांति अपने देश का सही तथा प्रामाणिक इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि पाश्चात्य अन्धानुकरण तथा पश्चिमकरण उसकी मानसिक गुलामी की विचारधारा बनी रही। इसके साथ ही तथाकथित 'सेकुलर' तथा वामपंथी इतिहासकारों ने इसके विकृतिकरण में सहयोग दिया। इनमें से अधिकतर को प्राचीन साहित्य तथा भारत की प्राचीन भाषाओं का या तो ज्ञान ही नहीं या अल्पज्ञान है अथवा अज्ञान है।

यह सही है कि पराधीन भारत के काल में तथ्यों पर आधारित सही इतिहास लिखने, समझने तथा चिंतन के सतत प्रयास होते रहे। इसमें स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविंद, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी तथा डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के प्रयास महत्वपूर्ण हैं। पिछले दो दशकों में भारतीय इतिहास संकलन योजना ने भी अनेक भ्रांतियों तथा विसंगतियों के ऐतिहासिक धरातल पर देश विदेश में दूर करने का प्रयत्न किया है। आर्य की नस्ल, आर्यों के आक्रमण का अतार्किक वर्णन, द्रविड़ों से उनके मतभेदों की कहानी, विलुप्त सरस्वती को न मानने का भ्रम, रामायण तथा महाभारत को कल्पनिक बताने की मिथक अब इतिहास से कालबाह्य हो गए हैं। भारतीय काल गणना के सही, प्रामाणिक तथा तथ्यपूर्ण विश्लेषण से महाभारत, महात्मा बुद्ध तथा जगत गुरु शंकराचार्य आदि की कपोल कल्पित तिथियां अतीत की बात हो रही है। मध्यकालीन तथा आधुनिक ऐतिहासिक समस्याओं

के विश्लेषण से अनेक नवीन तथ्य सामने आ रहे हैं।

प्रस्तुत लघु ग्रंथ वस्तुतः न ही कोई मौलिक रचना है और न ही कोई संग्रह। बल्कि तथ्यों के आधार पर जागरूक समाज को कुछ प्रमुख भ्रमित इतिहास के विषयों से परिचित करना है। इस दृष्टि से सूत्र/संकेत रूप से लगभग 18 विषयों पर तीन से चार पृष्ठों में चर्चा की गई है।

लेखक इस लघु ग्रंथ को तैयार करने में उन सभी विद्वानों, विचारकों, लेखकों तथा इतिहासकारों का ऋणी है जिनका इस लेखन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग मिला है। लेखक विशेष रूप से पंचनद शोध संस्थान के डायरेक्टर श्री श्याम खोसला तथा प्रो. बी. के. कुठियाला, कुलपति, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनकी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से पुस्तक का कार्य पूर्ण हो सका।

आशा है कि भारत के प्रबुद्ध पाठक तथा विशेष रूप से देश की युवा शक्ति, भारतीय इतिहास की इन कुछ भ्रांतियों तथा विसंगतियों से परिचित हो सही इतिहास लिखने तथा जानने के लिए उत्साहित होगी तथा देश को सही दिशा देगी।

मकर संक्रांति, 2013 ई.

सतीश चन्द्र मित्तल

किसी भी देश की वर्तमान पीढ़ी अपने अतीत से प्रेरणा प्राप्त कर भविष्य का निर्माण करती है। प्रेरणा में इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए इतिहास का सच्चा शोध जरूरी है, क्योंकि इतिहास व्यक्ति और राष्ट्र की चेतना को निर्धारित करता है। सही इतिहास का ज्ञान राष्ट्र को जीवंत बना सकता है तो उसका विकृत स्वरूप राष्ट्र के भविष्य को गर्त में ढकेल सकता है। इतिहास केवल विवरण नहीं होता, बल्कि वह राष्ट्र के उत्थान—पतन, सफलता—असफलता के कारणों को खोजता—जाँचता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इतिहास के दर्पण में वर्तमान की मुखाकृति को देखकर भविष्य की रूपरेखा तैयार होती है।

वैसे इतिहास का अध्ययन और उसका सही आंकलन अद्यतन युग से विवाद का विषय है। इतिहास के आंकलन और लेखन में भारत की स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण रही है। भारतीय इतिहास का लेखन यूरोपीय इतिहासकारों के द्वारा ज्यादा हुआ है। यूरोपीय इतिहासकारों ने जिस अभारतीय दृष्टिकोण से भारतीय वाङ्मय, संस्कृति और सभ्यता का मूल्यांकन किया है, वह उनके अपने पूर्वाग्रह और स्वार्थों से ग्रस्त रही। यही कारण है कि भारतीय पुराणों, ग्रंथों जैसे रामायण और महाभारत को मिथक या कल्पना बताते हुए खारिज करने का प्रयास किया गया। यदि आजादी के पहले यूरोपीय और अंग्रेज इतिहासकारों ने यह कुचेष्टा की, तो आजादी के बाद साम्यवादी और कथित सेक्यूलरवादी सोच के इतिहासकारों ने भी भारतीय इतिहास—बोध को दूषित और विकृत बनाने में राष्ट्रीय अस्मिता को कमजोर करने में कोई कम कसर नहीं छोड़ी है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रो. सतीशचन्द्र मित्तल ने भारतीय इतिहास की विसंगतियों और विडम्बना की ओर हमारा ध्यान काफी गंभीर तरीके से खींचा है। प्रो. मित्तल ने वर्षों से चली आ रही इतिहासबोध की भ्रामक धारणाओं को बड़े ही प्रामाणिक तर्कों और संदर्भों से बदलने की पैरवी की है। अपने इस प्रयास के लिए प्रो. मित्तल निश्चित ही साधुवाद के पात्र हैं।

पंचनद शोध संस्थान, इस प्रामाणिक पुस्तक को प्रस्तुत करते हुए गौरवान्वित है। हमें विश्वास है कि हमारा प्रयास भारतीय जनमानस को स्पंदित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा और भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय अस्मिता के प्रति गर्व का भाव उत्पन्न करेगा।

प्रो. बी. के. कुठियाला

एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है कि 'इतिहास का निर्माण सरल है परन्तु इतिहास लिखना कठिन है।' किसी भी देश, समाज अथवा राष्ट्र का इतिहास मुख्यतः उसके जीवन दर्शन, जीवन मूल्यों, धर्म, संस्कृति तथा परम्परा के अनुरूप होता है। भारत का सही तथा तथ्यपरक इतिहास जानने के लिए इसके दर्शन, साहित्य तथा जीवन दृष्टि को जानना आवश्यक होगा। प्राच्य दर्शन एवं जीवन का उद्देश्य दुःखः निवृत्ति, मृत्यु विजय तथा मोक्ष प्राप्ति माना है। जगत का अर्थ 'अपरा' तथा 'परा' के संयोग को माना है। जीवन के अध्ययन के लिए प्रकृति (अपरा) तथा जीवात्मा तथा परमात्मा (परा) का ज्ञान आवश्यक बतलाया है। पाश्चात्य दर्शन केवल दुःखः निवृत्ति अथवा सुख प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानता है, वे केवल प्रकृति को ही चिंतन का आधार मानते हैं, उन्होंने इसे 'विज्ञान' अर्थात् विशेष ज्ञान की संज्ञा दी है। पाश्चात्य चिंतन अपने से उपजी मार्ग की दिशा एवं विचारधारा में, जीवन के पश्चात्—मृत्यु के चिंतन पर विचार करने को तैयार नहीं है, मार्क्सवादी चिंतन तो इस दिशा में प्रायः शून्य है।

अतः किसी भी देश के इतिहास की अवधारणाओं, विकास के महत्वपूर्ण आवश्यक तत्वों, तथ्यों का संग्रह, विश्लेषण की प्रक्रिया, विभिन्न इतिहास लेखन पद्धतियों, उद्देश्यों तथा इसके निष्कर्षों का जानना आवश्यक है। वैसे भी अधिकतर यूरोपियन विद्वान 19 वीं शताब्दी को ही 'इतिहास चिन्तन का काल' मानते हैं, जबकि भारत में इतिहास दृष्टि का प्राचीन काल से ही विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया है। इतिहास को 'पंचम वेद' कहा गया है।

भारतीय चिंतन की दृष्टि से इतिहास कोई अंग्रेजी भाषा में प्रचलित 'हिस्ट्री' का पर्याय नहीं है जिससे केवल 'हिज हिस्ट्री' अथवा 'हर हिस्ट्री' का वर्णन है। इतिहास कोई 'तारीखों' का वर्णन मात्र अर्थात् 'तवारीख' भी नहीं है। इतिहास केवल तथ्यों का संकलन मात्र भी नहीं, यद्यपि यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। यह कोई भविष्यवाणी का मापक यन्त्र भी नहीं है। इतिहास कोई प्रचार तन्त्र का औजार भी नहीं है। सार रूप में भारतीय चिन्तन में इतिहास सत्य के खोज की एक सतत् प्रक्रिया है। इतिहास मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों — धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के अध्ययन, अनुभव तथा अनुभूतियों का समुच्चय है। यह अतीत का अध्ययन, वर्तमान का अनुभव तथा भविष्य का

स्वप्न सजाने की दृष्टि प्रदान करता है। इतिहास कोई काल्पनिक उपन्यास नहीं बल्कि तथ्यों के आधार पर राष्ट्र जीवन की निष्पक्ष अभिव्यक्ति है।

यह सत्य है कि भारत का विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं के उदगम में इसका स्थान प्रथम आता है। यह भी सत्य है कि समय-समय पर अनेक घुमक्कड़ कबीलों ने लूटमार तथा अपनी रोजी-रोटी के लिए भारत पर आक्रमण किये। ईरानी, यूनानी, इण्डो-बेक्ट्रियन, इण्डो-पार्थियन, सीथीयन, कुषाण, हूण आदि भारत में आये। परन्तु ये सभी आक्रमणकारी भारतीय जन-जीवन से समरस हो गये। भारतीयों ने इन्हें आत्मसात कर लिया। इसके पश्चात् भारत में पहले मुसलमानों ने आक्रमण किये तथा इसके पश्चात् यूरोपियनों द्वारा घुसपैठ हुई। जहां मुसलमानों ने भारत के कुछ भाग पर आधिपत्य जमाया, वहां के सांस्कृतिक स्थलों को विशाल स्तर पर ध्वंस तथा नष्ट किया। देश के इस्लामीकरण तथा गुलामीकरण का असफल प्रयास किया। इसी भांति अंग्रेजी लूटरोँ तथा ईसाई पादरियों ने भारत में अंग्रेजी राज्य को स्थायी बनाने तथा देश के ईसाईकरण का प्रयास किया।

अंग्रेजों ने राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित करने तथा इसके सुदृढीकरण के लिए अनेक नृशंस अत्याचार, सामूहिक हत्याकाण्ड तथा ध्वंस के कार्य किये। मनमाने ढंग से भारतीय इतिहास को गढ़ा तथा तोड़ा मरोड़ा। पठानों तथा मुगल शासकों ने भारत को हरब-दारूल से दारूल-इस्लाम बनाने के लिए दरबारी चाटुकारों तथा इतिहासकारों को धन-धान्य से भरपूर कर मनमाना इतिहास लिखवाया। अंग्रेज प्रशासकों तथा इतिहासकारों ने अपने राज्य की वैधता बतलाते हुए तथा मजबूत तथा सतत बनाने के लिए इतिहास में भ्रांतियों तथा विसंगतियों को जन्म दिया। भारतीयों में हीन भावना पैदा करने की कोशिश की। वस्तुतः भारत को एक स्थायी ब्रिटिश उपनिवेश बनाने, एक ईसाई देश बनाने, भारत में परस्पर अलगाव पैदा करने तथा धन प्राप्ति की आकांक्षाओं से ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को एकाकी, पूर्वाग्रहों से ग्रसित तथा यूरोपीय उच्चतर अहंकार की भावना से युक्त हो, अपने ग्रंथों की रचना की।

प्रायः यह दृष्टिगोचर होता है कि विश्व के अनेक देशों ने विदेशी पराधीनता से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् अपने अपने देश के इतिहास को लिखा है। देश के भावी विकास तथा सुदृढता के लिए इसे प्रमुखता दी है। उदाहरणतः यूनान, तुर्की, मिश्र, रूस, जर्मनी आदि सबने इसमें आगे बढ़कर, इसे प्राथमिकता दी। सोवियत संघ के आधिपत्य समाप्त होने पर यूरोप के कई पूर्वी देशों में हलचल हुई। यहां तक की हांगकांग जैसे छोटे देश ने भी ब्रिटिश साम्राज्य से 1997 में मुक्त होने पर, कई मास बाद अपने कालेजों में

ब्रिटिशकालीन हांगकांग का इतिहास बदलकर अपना सही तथा प्रामाणिक इतिहास लिखा। आज भी वहां जबरदस्ती इतिहास में चीनी पाठ्यक्रम लादने का विरोध हो रहा है।

स्वाभाविक रूप से अगस्त 1947 से भारतीयों की यह आकांक्षा बनी रही कि उनका इतिहास लगभग 150 वर्षों तक अंग्रेजों के साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक चंगुल से निकलकर उनका अपना निष्पक्ष तथा गौरवमय अतीत का इतिहास लिखा जायेगा। कतिपय विश्व प्रसिद्ध इतिहासकारों को भी यह उम्मीद थी। उदाहरणतः प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार सी. एच. फिलिप ने अपने द्वारा सम्पादित एक प्रसिद्ध पुस्तक में लिखा कि 'अभी तक भारत के इतिहास को ब्रिटिश विद्वानों द्वारा विश्लेषण किया गया है। अब देखना है कि भारत के लोग अपना इतिहास कैसे लिखते हैं।' इसी भांति जर्मनी के एक प्रसिद्ध विद्वान विलियम वोन पोकहेमर ने लिखा, 'जब मैं भारत का इतिहास पढ़ता हूं तो लगता है ही नहीं कि मैं भारत का इतिहास पढ़ रहा हूँ, बल्कि लगता है कि वह केवल पराजय, पतन तथा अपमान का इतिहास है, जो सत्य नहीं है।' 'विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नोल्ड टायनबी ने भारतीय इतिहास को पाश्चात्य चिंतन से ग्रसित पाया। उसने भारतीय इतिहास को यूरोपीयन उच्चता की भावना से अत्यधिक प्रेरित पाया। फ्रांस की प्रसिद्ध पत्रिका 'ली फिगारो' के प्रसिद्ध पत्रकार फरानोस ग्यूटियर ने लिखा कि 'हम घटनाओं (भारतीय) को एक ऐसे प्रिज्म की सहायता से देखते हैं जिसका निर्माण पाश्चात्य विचारों से ओतप्रोत होकर बनाया गया है।' इसी प्रकार के विचार आंगरे डी. रिच्यूकोर्ट, रोनाल्ड इण्डेन तथा प्रसिद्ध महिला कंटे टेटसीचर आदि ने उद्धरित किये हैं।

संक्षेप में यदि इन विसंगतियों तथा भ्रामक धारणाओं को ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में देखे तो मोटे रूप से ईसाई पादरियों, ब्रिटिश प्रशासकों तथा ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास, संस्कृति, दर्शन, धर्म ग्रंथों के मनमाने अर्थ निकाले। सामान्यतः यह क्रम ईसाई पादरियों की धर्मान्धता तथा ईसाईकरण की महती महत्वाकांक्षाओं के फलस्वरूप हुआ। धर्म अथवा मत परिवर्तनों के प्रयत्नों में तथा मूर्तियों को खंडित करने में वे प्रायः असेमेटिक मतावलंबियों के प्रति अत्यधिक धूर्त और क्रूर थे। अधिकतर ईसाई पादरी यूरोप के पिछड़े वर्ग के अनपढ़, असभ्य परन्तु ईसाईयत के सिद्धांतों, रीतिरिवाजों, मिथकों तथा दंतकथाओं के प्रति अन्ध श्रद्धा तथा आस्था रखते थे। प्रायः उनकी भाषा गाली गलौज से पूर्ण तथा व्यवहार असंतुलित होता था। ईसाई पादरियों ने भारतीयों को बलपूर्वक ईसाई ही नहीं बनाया बल्कि अपनी रचनाओं में भारतीयों के चरित्र, धर्म की अज्ञानता, ईसाईयत के प्रति

अन्ध श्रद्धा तथा प्रचार के जुनून में भारत के इतिहास को विकृत किया तथा उसका वीभत्स रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने हिन्दू मंदिरों तथा उसमें स्थापित मूर्तियों का विकृत वर्णन किया तथा उनकी तुलना 'राक्षसों' तथा 'दैत्यों' से की जो खून की प्यासी हैं। इटली के एक यात्री के 1510 में मरणोपरांत 'इटीनीरिटिया' में इसी प्रकार का वीभत्स तथा घृणास्पद वर्णन है, इस पुस्तक का अनुवाद यूरोप की अनेक भाषाओं में हुआ तथा यह पुस्तक किसी भी भारत आने वाले यूरोपीयन के लिए मार्गदर्शिका बन गई। वास्कोडिगामा की भारत यात्रा के पश्चात् तो 16 वीं तथा 17वीं शताब्दी में अनेक रोमन कैथोलिक पादरी भारत आये। इसमें फ्रांसिस जेवियर, रोबर्ट डी नोबिले, अब्राहम रीर्जीयस उल्लेखनीय हैं, इन्होंने भारतीय जनजीवन का कटुतापूर्ण तथा विकृत वर्णन किया है। उनकी चार प्रमुख श्रेणिया (orders) फ्रांसिसीयस, जैसूयट, डोमीनिकन्स तथा आगस्टीइस भारत के विभिन्न भागों में स्थापित हो गई। शीघ्र ही भारत में अंग्रेजों के साथ प्रोटेस्टेंट पादरियों का जमाव भी बढ़ा। विलियम कैरी, जे.सी. मार्शमेन (1768-1837) तथा विलियम वार्ड ने भारत में ईसाईयत के प्रचार को भारत में ब्रिटिश व्यापार के लिए अति आवश्यक बताया। मार्शमेन ने 1835 में 'भारत का इतिहास', वार्ड ने चार भागों में (A view of the history of literature and religion of the Hindustan) (1817-1820) लिखी। कम्पनी के एक डायरेक्टर चार्ल्स ग्रांट (1748-1823) ने अपनी रचना 'ओब्जरवेशन्स' में हिन्दू जीवन की व्यंग्य तथा पक्षपातपूर्ण आलोचना की तथा भारत में प्रचलित हिन्दू कुप्रथाओं का प्रयोग ईसाईयत को तेजी से प्रचार को बतलाया। एक फ्रेंच पादरी एबे दूबोव की पुस्तक 'हिन्दू मैनेर्स, कस्टम एण्ड सैरेमनीज' पाश्चात्य विद्वानों तथा यात्रियों के लिए एक प्रकार से हिन्दू प्राइमर बन गई। अनेक अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीयों ने भी इसे गार्ड के रूप में लिया।

सामान्यतः ब्रिटिश तथा अन्य यूरोपीयन यात्रियों का आगमन भारत में मुगल शासकों के प्रारंभिक काल से हो गया था। सम्राट जहांगीर तथा शाहजहां के काल में इनकी उपस्थिति महत्वपूर्ण हो गई थी। ये प्रायः सभी विद्वान संस्कृत भाषा अथवा यहां की स्थानीय भाषाओं से अपरिचित थे। 1760 में बंगाल में लार्ड क्लाइव के शासन स्थापित हो जाने के पश्चात् इनकी भारत के बारे में जानने की विशेष उत्कंठा हुई, इन ब्रिटिश विद्वानों ने प्रायः ईसाई मिशनरियों के झूठे तथा कपटपूर्ण विचारों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। उनके विचारों को प्रमाणिकता का पत्र दिया। कम्पनी शासन के प्रारंभिक तीस वर्षों में इन ब्रिटिश प्रशासकों/इतिहासकारों ने यहां की भूमि व्यवस्था, रीतिरिवाजों तथा इतिहास जानने में रुचि दिखलाई। भारतीयों ने,

विशेष रूप से हिन्दुओं ने, उनके कार्य में रूकावट डाली तथा असहयोग किया। इसके फलस्वरूप बाद में जेम्स मिल ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया' में हिन्दुओं को जी भर कर गालियां दी। एलेक्जेंडर ड्यू ने 'द हिस्ट्री ऑफ हिन्दुस्तान' (तीन भागों में 1768-1772) में लिखी तथा भारतीय इतिहास की मनमानी व्याख्या की।

भारत के संदर्भ में सर्वप्रथम रुचि ब्रिटिश प्राच्यवादियों ने ली, 1784 में सर विलियम जोन्स द्वारा ऐशियाटिक सोसायटी की स्थापना की, जिसका 1829 तक कोई भी भारतीय सदस्य नहीं बन सकता था। 'ऐशियाटिक रिसर्चज' नामक मुख पत्र द्वारा भारतीय इतिहास को कुरदने के कुछ प्रयत्न किये गए। सर विलियम जोन्स (1746-1794), चार्ल्स विलकिन्स (1749-1836), हेनरी थामस कोलब्रुक (1765-1837), सर जान शोर (1751-1834), हिरेस हेमन विल्सन (1786-1860) आदि विद्वानों ने भारत के बारे में लिखा। कुछ जर्मन तथा अन्य विद्वानों ने भी भारत को अपने चिंतन का विषय बनाया। परन्तु इनकी ऊर्जा भारतीयों में हीन भावना जागृत कर अपने को उच्च दिखलाने की भावना रही, वे भारत को एक ईसाई देश के रूप में देखना चाहते थे। इसीलिए सृष्टि का आरंभ, मानव जीवन की रचना, पृथ्वी की आयु जैसे विषयों पर ईसाईयत की पूर्व प्रचलित धारणाओं को भारतीयों पर लादा। उन्होंने भारतीय इतिहास को 1300 वर्ष ई.पू. तक सीमित रखा। भारतीय काल गणना को स्वीकार नहीं किया। आर्यों के भारत आक्रमण का सिद्धांत गढ़ा, भारतीय पुराणों में वर्णित धारणाओं को पूर्णतः झूठ बतलाकर सेण्डराकोटस को ही चन्द्रगुप्त मौर्य बतलाया। महाभारत का काल केवल 200 वर्ष ई.पू. बतलाया। संक्षेप में ब्रिटिश प्राच्यवादियों ने भारत के इतिहास के बारे में अनेक मनगढ़न्त भ्रांतियों तथा विसंगतियों को जन्म दिया जिसे बाद में मैक्समूलर जैसे ईसाई पादरियों ने आगे बढ़ाया।

ब्रिटिश उपयोगितावादी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास में मनमाने ढंग से अदला-बदली की तथा इसे ब्रिटिश चिन्तन के अनुरूप बनाने की कोशिश की। इसमें प्रमुख जेम्स मिल (1773-1836) टी.बी. मैकाले (1800-1859) ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासक तथा इतिहासकार थे।

उपयोगितावाद से प्रेरित हो मैकाले, टामस मुनरो, एलीफिन्स्टन, मैटकाफ, लार्ड विलियम बैंटिक ने कार्य किये, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि भारत के बारे में उनके मापदण्ड दोहरे तथा नकारात्मक थे। वे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे हर कीमत पर भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व बनाये रखना चाहते थे, वे भारत में उपयोगिता के सिद्धांत को

एक नीति के रूप में अपनाना चाहते थे, उन्हें भारत में केवल एक संस्था की चिन्ता थी और वह थी ईस्ट इंडिया कम्पनी।

माउंटस्टुअर्ट एलीफिंस्टन (1779-1859) तथा सर जान मेलकाम (1769-1833) भारत में ब्रिटिश रोमांटिक इतिहासकारों में से माने जाते हैं। उनका लेखन तात्कालिक ब्रिटिश इतिहासकारों से यद्यपि बेहतर तथा सहानुभूतिपूर्ण था परन्तु ये दोनों इतिहासकार तथा ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी, राजनीतिक इतिहास के प्रश्न पर प्रायः चुप तथा अत्यन्त सीमित हैं। एलीफिंस्टन राष्ट्र के पाश्चात्य तथा राजनैतिक कल्पना के अनुरूप भारत में दस राष्ट्रों की बात मानता है। उसने शिवाजी महाराज के अन्तर्गत डाकुओं के राजतन्त्र बने रहने को माना। जेम्स मिल की भांति वह भी भारतीय इतिहास को अवैज्ञानिक ढंग से हिन्दू, मुस्लिम तथा ब्रिटिश काल में विभाजित करता है। वह वेदों का काल 1400 ई.पू. मानता है जो सर्वथा असंगत तथा तथ्यहीन है, उसका कालक्रम अन्दाजे के आधार पर है, वह भी मिल, मैकाले की भांति हिन्दुओं में प्रायः सभी दुर्गुणों को मानता है। मेलकाम की रचनायें भी तथ्यों से दूर हैं, उसके अनुसार 'हिन्दुस्तान' के अर्थ में मध्यभारत की उत्तरी सीमा आती है जिसमें गुजरात उसका भाग नहीं है, वह मराठों या सिक्खों या राजपूतों को अलग राष्ट्रों के रूप में बतलाता है।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने इसी भांति अलग-अलग प्रांतों के इतिहास लिखे। प्रायः सभी ये प्रशासक-इतिहासकार जिस क्षेत्र से अथवा प्रांत के अधिकारी थे, वहाँ के लोगों की प्रशंसा की तथा अन्य प्रांतों के लोगों के प्रति योजनापूर्वक घृणा तथा अलगाव को बढ़ाया। यह सहज रूप से लेफिटनेंट कर्नल जेम्स टाड (1782-1835) के 'ऐनल्लस एण्ड इन्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान', जेम्स कनिंघम ग्रांट डफ (1789-1858) की हिस्ट्री ऑफ मरहटाज (तीन भागों में 1826) तथा जोसेफ डेवी कनिंघम (1812-1851) की पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ द सिक्ख्स फ्रॉम द ओरीजन आफ ऐ नेशन टू द बैटिल आफ सतलुज' में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस तरह का भ्रामक इतिहास हेमीलटन ने 'असम' (1807), स्टर्लिंग ने 'उडीसा' (1864) तथा मार्शमेन ने 'बंगाल' (1836) के बारे में लिखा। उल्लेखनीय है कि ये सभी इतिहासकार भारत में ब्रिटिश राज्य की सुरक्षा तथा दृढ़ता के पोषक थे तथा भारतीयों में परस्पर टकराव तथा अलगाव के हिमायती थे। अतः इतिहास के तथ्यों तथा विश्लेषण में विसंगति तथा विकृति पैदा की।

1857 के महासमर के पश्चात सीधे ब्रिटिश शासन की स्थापना से एक नवीन साम्राज्यवादी ब्रिटिश इतिहासकारों का दौर प्रारंभ हुआ। इतिहास के सैद्धांतिक विश्लेषण में भी परिवर्तन हुआ। अब ब्रिटिश इतिहासकारों ने

भारतीय इतिहास की गुत्थियों को मनमाने ढंग से सुलझाना चाहा। अनेक नई-नई खतरनाक तथा विषैली धारणाओं, विसंगतियों तथा मिथकों को जन्म दिया गया। उन्होंने मनमाने ढंग से भारत के अतीत की व्याख्या की तथा ब्रिटिश जनता के सम्मुख भारत में उनके भविष्य का सुनहरा चित्र रखा। उन्होंने भारतीय इतिहास को ब्रिटिश साम्राज्य तथा राजनीति की दासी के रूप में प्रयोग किया। अतः नई-नई धारणाओं, काल्पनिक मान्यताओं तथा तथ्यहीन निष्कर्षों को बल मिला।

1857 के महासमर पर भी अनेक ब्रिटिश प्रशासनिक तथा नागरिक अधिकारियों, सैनिक अधिकारियों, ईसाई पादरियों, पत्रकारों तथा व्यावसायिक इतिहासकारों द्वारा ग्रंथों की रचना की, तात्कालिक लेखकों में सर जे. डब्ल्यू केयी (1814-1876) तथा जार्ज ब्रुश मैलीशन (1825-1898) ने तीन-तीन भागों में अपने ग्रंथ लिखे। प्रायः सभी के निष्कर्ष ब्रिटिश शासन की सुरक्षा तथा निरंतरता के अनुकूल थे, सभी के विश्लेषण में समर की प्रकृति तथा स्वरूप एक सा है, उन्होंने 1857 के महासमर का विश्लेषण परिणाम के आधार पर किया न कि इसके कारणों तथा परिस्थितियों के आधार पर अधिकतर ब्रिटिश विद्वानों की विवेचना एकपक्षीय, तथ्यों को तोड़ मरोड़कर, पूर्वाग्रहों से ग्रसित तथा केवल ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखकर की गई हैं। इन ब्रिटिश इतिहासकारों ने एक नये मिथक को जन्म दिया जिससे उनका पक्षपात रहित, प्रामाणिक तथा तथ्यपूर्ण इतिहास लेखन का दावा झूठा तथा तथ्यरहित लगता है।

मोटे रूप से इन ब्रिटिश इतिहासकारों ने इतिहास के राजनैतिक और विशेषकर प्रशासनिक स्वरूप का ही वर्णन किया। सर जार्ज चेशने तथा सर जान स्ट्रेची ने अपने ग्रंथों में केवल प्रशासन की चर्चा की। ब्रिटिश इतिहासकारों ने राष्ट्र, राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद को साम्राज्यवादी व्याख्या की तथा जानबूझकर भारत को एक महाद्वीप या उपमहाद्वीप के रूप में चित्रित किया। सर राबर्ट शीले, सर जान स्ट्रेची, डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर, ए. ओ. ह्यूम, हेनरी काटन ने इसी आधार पर भारत एक राष्ट्र नहीं कि झूठी धारणा फैलाई।

इसी काल में आर्य एक जाति तथा भारत पर आर्यों के आक्रमण को शरारतपूर्ण तथा अप्रामाणिक थ्योरी गढ़ी गई। ब्रिटिश साम्राज्य की राजनैतिक स्थिरता व प्रभुत्व बनाये रखने के लिए इस काल्पनिक विचार को, ब्रिटिश नागरिकता प्राप्त मैक्समूलर, स्काटिश पादरी जान विल्सन तथा जेम्स टालबाय व्हीलर ने बढ़ावा दिया। राजकीय सहायता से ऐसे ग्रंथों की रचना की गई, जो भारतीयों में परस्पर विभाजन तथा अलगाव को बढ़ाये। इसमें हण्टर, लिथनर, मैकालिफ, लेपिन ग्रिपथ आदि के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। सर

जार्ज कैम्पबेल ने बंगाल में तथा राबर्ट काल्डवेल ने यही कार्य दक्षिण भारत में किया। सर एल्फ्रेड लायल ने अपने ग्रंथों में हिन्दुओं की बढ़ती जनसंख्या को बड़ा खतरा बतलाया। इस अलगाव को बढ़ाने के लिए हण्टर ने सरकारी आदेश से केवल तेरह दिनों में एक पुस्तक 'द इण्डियन मुसलमान्स' लिखकर हिन्दू-मुस्लिम टकराव को बढ़ाया।

बीसवी शताब्दी में दो महायुद्धों ने न केवल ब्रिटिश साम्राज्य बल्कि विश्व के राजनीति मानचित्र को उलट-पलट कर दिया। इतिहास के चिन्तन तथा विश्लेषण की प्रक्रिया को पुनः अपने हिसाब से बदला। तब भी भारतीय इतिहास का मुख्य विषय ब्रिटिश प्रशासन का यशोगान ही बना रहा। अंग्रेजों की सैनिक सफलताओं तथा भारतीय रियासतों पर ब्रिटिश प्रभुत्व का वर्णन विस्तार से किया गया। सर वेलेंटाइन शिरोल, एन. सी. नौलिश तथा डॉ. वीराअन्तसे ने तब भी भारत की आर्थिक प्रगति का ढोल पीटा तथा इसका मुख्य आधार ब्रिटिश मस्तिष्क की उर्वरता तथा धन की सहायता दर्शाया।

अंग्रेज इतिहासकारों ने भारत में उठती हुई राष्ट्रवाद की भावना, सामाजिक तथा धार्मिक जागरण, क्रांतिकारी गतिविधियों को या तो उपेक्षित किया अन्यथा भारतीय क्रांतिकारियों को चोर, डाकू, षडयंत्रकारी, विद्रोही, बगावती आदि कहकर इनका नृशंसापूर्वक दमन किया। वी.ए.स्मिथ तथा एच. एच. डाडवैल ने अपने ग्रंथों में राष्ट्रीय आंदोलन की पूर्णतः उपेक्षा की। शिरोल, पी.ई.राबर्ट, वरणाय लावेट, एडवर्ड थम्पसन ने इन्हें ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखते हुए लिखा, जो न तथ्यपूर्ण है न प्रमाणित और न ही विश्लेषणात्मक।

1947 में स्वतंत्रता के पश्चात भी ब्रिटिश इतिहासकार जातीय उच्चता, अहंकार तथा प्रशासकीय श्रेष्ठता के भाव से ग्रसित रहे, उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता को 'शक्ति का हस्तांतरण' तथा भारतीयों को 'स्वर्ण थाली में रखकर दिया 'एक सुन्दर तोहफा' बतलाया। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यक्तिगत स्वार्थों तथा दलगत क्षुद्र भावनाओं से प्रेरित तथा जानवरों की लड़ाई लिखा। इस नवचिंतन के जनक कैम्ब्रिज के जान ग्लेघर तथा उनके शिष्य अनील शील तथा उनकी शिष्य परम्परा रही। उन्होंने 'राष्ट्रीय आन्दोलन' को 'राष्ट्रों का आन्दोलन' बताया। विभिन्न राष्ट्रीय नेताओं के चरित्र हनन करने में कोई कसर न छोड़ी। इन लेखकों में प्रमुख सी.ए.बोयली, गार्डन जानसन, डी.ए.वाशवुड, जान बेकर, फ्रांसिस रोबिनसन आदि हैं। इसी प्रकार का लेखन न्यू कैम्ब्रिज हिस्ट्री की सीरीज में किया गया। इनके मनमाने विश्लेषण में दर्शाया गया कि भारत में कभी, न कोई राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ और न ही भारतीय नेताओं में राष्ट्रीयता की भावना कभी थी। भारतीय नेता

प्रायः स्वार्थी, पदलोलुप, प्रतिस्पर्धी, क्षेत्रीय हितैषी तथा पारस्परिक अन्तर्विरोध में आबद्ध थे।

संक्षेप में अंग्रेजों द्वारा फैलाई इतिहास में विकसित भ्रांति की जड़े इतनी मजबूत हो गईं कि स्वतंत्रता के 65 साल बाद भी यह भारतीय 'सोच' में रमी हुई हैं। ब्रिटिश इतिहासकारों ने अपने साम्राज्य के बलबूते पर भारतीय इतिहास को मनमाने ढंग से तोड़ मरोड़ कर अपने निष्कर्ष निकाले तथा अपनी कल्पना के अनुसार भारतीय इतिहास की सृष्टि कर डाली। भारतीय इतिहास तथ्यों पर आधारित, सत्य की अभिव्यक्ति न रहकर यूरोपीयन विशेषकर ब्रिटिश विजेता के मस्तिष्क की उपज तथा आकांक्षा की चेरी बनकर रह गया। दुर्भाग्य से अंग्रेज साहब के वाक्यों को ईश्वरीय वाक्य मान लिया तथा आज भी अनेक भारतीय इतिहासकार व अन्य विद्वान भी उसी सोच के अनुगामी हैं।

जहां अंग्रेजी इतिहासकारों की दृष्टि में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा सर्वोच्च मुद्दा बना रहा, वहां भारतीय कम्युनिस्टों ने सोवियत संघ तथा चीन को अपना 'मायका' माना। ताशकन्द में जन्मी कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया ने अपने को मार्क्सवाद के खूटे से बांध लिया तथा कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन तथा बाद में चीन के माओत्सेतुंग के वाक्यों को ईश्वरीय आदेश मानकर स्वागत किया। इन्होंने भारत के इतिहास की मूल प्रेरणा, आध्यात्म तथा धर्म की जड़े काटते हुए, धर्म को अफीम की पुड़िया, 'आध्यात्मिक अन्धविश्वास' आदि कहकर नास्तिकता को महत्व दिया। सही बात तो यह है कि स्वयं कार्ल मार्क्स तथा उनके धनवान मित्र इंजिल को भारतीय इतिहास का सीमित ज्ञान था। मार्क्स ने मुख्यतः भारत के बारे में केवल जेम्स मिल तथा माउंटस्टुअर्ट ऐलीफिंस्टन के ग्रंथों को पढ़ा था तथा भारत के बारे में कुल 23 लेख तथा इंजिल ने आठ लेख लिखे थे। 1917 की बोल्शेविक क्रांति तथा मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित हो, एम.एन.राय, रजनी पाम दत्त, ए.आर.देसाई तथा एस.ए.डांगे ने मार्क्स के इतिहास को पढ़ा तथा वर्ग भेद से युक्त ढांचे को भारतीय इतिहास के फ्रेम में जड़ने की कोशिश की। मार्क्सवादी लेखकों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की मनमानी व्याख्या की तथा राष्ट्रीय नेताओं के चरित्र हनन में विशेष योग्यता प्राप्त की। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, बंकिम चट्टोपाध्याय, महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक, सुभाषचन्द्र बोस, यहां तक की महात्मा गांधी की असंयमित, अतार्किक तथा तथ्यहीन आलोचना की, परन्तु महात्मा गांधी तथा सुभाषचन्द्र बोस जैसे नेताओं ने इनके पांव भारत भूमि पर जमने न दिये।

स्वतंत्रता के पश्चात भारत में मार्क्सवादी विचारकों को भारत के

प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा बाद में 1970 में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा प्रोत्साहन मिला। एक प्रकार से देश का बौद्धिक एजेण्डा इनके हाथों में आ गया। अतः उन्होंने भारत के इतिहास को प्राइमरी से विश्वविद्यालयीय अध्ययन तक बदलने का घृणित प्रयास किया गया। इतिहास को तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर न लिखकर मनमाने विश्लेषण के आधार पर लिखने का प्रयास किया। इस संदर्भ में प्राचीन भारतीय इतिहास का विवेचन आर. एस. शर्मा, डॉ. श्रीमाली, डी. डी. कौशम्बी, डी. एन. झा, पी. चट्टोपाध्याय, रोमिला थापर आदि ने किया। मध्यकालीन भारत का विश्लेषण इरफान हबीब, सतीशचन्द्रा, एस. नुरुलहसन, हरबन्स मुखिया, वी.एन.एस. यादव तथा आधुनिक काल की व्याख्या विपिन चन्द्र, हीरेन मुखर्जी, ई.एम.एफ. नम्बदूरीपाद, सुमित सरकार, के. एन. पान्निकर, एस. भट्टाचार्य, वरुण डे, आदि ने की। इसी बीच सोवियत लेखकों द्वारा भारतीय इतिहास के बारे में विविध लेख छपते रहे जो भारतीय मार्क्सवादियों के लिए मार्गदर्शक बन गए।

भारतीय मार्क्सवादियों ने जहां अधिकतर ब्रिटिश इतिहासकारों की भ्रांतियों तथा इतिहास की विसंगतियों को दृढ़ता प्रदान की, वहां अनेक नवीन विकृतियों, भ्रांतियों, मिथकों को जन्म दिया। ये सदैव इतिहास को एक राजनैतिक हथियार के रूप में प्रयोग में लाते रहे। वे तथ्यों को तोड़मरोड़कर अथवा गायब कर अपने भविष्य की सोच के अनुकूल इतिहास गढ़ते तथा तराशते रहे। अब भारत के गौरवपूर्ण इतिहास को धूमिल करने के प्रयत्नपूर्वक प्रयास हुए। अब उनके द्वारा बताया जाने लगा कि आर्य गोमांस खाते थे, रामायण तथा महाभारत काल्पनिक तथा मनगढ़ंत है। उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी विद्वान सर्वपल्ली एस. गोपाल, रोमिला थापर, विपिनचन्द्र, सुवीरा जायसवाल, हरबन्स मुखिया, के. एन. पान्निकर ने एक लिखित फतवा दिया कि रामायण एक काव्य है, अयोध्या 800 वर्ष ई.पू. थी ही नहीं, अयोध्या के लोगों का जीवन बाल्मीकी रामायण से भिन्न था, रामायण काल का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है आदि आदि। जैन धर्म के पहले तेइस तीर्थंकर हुए ही नहीं तथा महावीर स्वामी बारह वर्षों तक एक ही वस्त्र में भटकते रहे। अशोक के काल में ब्राम्हण तथा बौद्ध आपस में लड़ते थे। गुप्तकाल भारत का स्वर्णयुग न था, महमूद गजनवी का सोमनाथ पर आक्रमण केवल धन के लालच के कारण था। मुगलों का शासन काल भारत का स्वर्णयुग था। औरंगजेब एक जिंदा पीर था तथा उसके द्वारा हिन्दुओं पर जज़िया कर सही था। गुरु तेगबहादुर की मृत्यु पारिवारिक झगड़े के कारण हुई, जाट लूटेरे थे, 1857 के संघर्ष में नाना साहेब 'धोखेबाज' तथा झांसी की रानी 'दुलमुल' तथा कुवर सिंह 'कर्जदार' थे। महाराणा प्रताप, शिवाजी तथा गुरु गोविन्द सिंह,

मुगल शासक अकबर तथा औरंगजेब की तुलना में राष्ट्रीय न थे। इसी भांति उन्होंने लाल-बाल-पाल को 'चरमपंथी' माना। मार्क्सवादी चिंतकों की भांति भारतीय कम्युनिस्ट वर्तमान प्रचलित राष्ट्रवाद की व्याख्या नहीं मानते। उनका मत है कि राष्ट्रवाद पूंजीपति प्रभाव से आता है तथा इसकी जड़े उत्पादन पद्धति में हैं। वे इसे पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की स्वाभाविक उपज मानते हैं। भारतीय मार्क्सवादी, सदैव राष्ट्रवाद की दृष्टि, मार्क्स तथा लेनिन से प्राप्त करते रहे हैं।

उनकी राष्ट्रवाद के संदर्भ में भूमिका नकारात्मक अथवा भारतीय इतिहास में उभरते हुए राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीय आंदोलन के विपरीत रही। उन्होंने भारत के सांस्कृतिक, जातीय तथा परम्परागत विरासत को भुलाकर नवीन इतिहास रच डाला। उन्होंने भी अंग्रेजों की भांति भारत को एक बहुराष्ट्रीय देश बताया। उन्होंने कहा भारत एक राष्ट्र नहीं है बल्कि यह अलग-अलग राष्ट्रीयता का समूह है। बाद में उन्होंने भारत को 17 राष्ट्रों का समूह बतलाया। संक्षेप में उन्होंने एक काल्पनिक राष्ट्रवाद की कल्पना की, जिसका कोई सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक आधार नहीं दिया।

अंग्रेजी इतिहासकारों, मार्क्सवादियों के साथ-साथ भारत में राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु एक और इतिहास लेखन का भ्रमित तथा तथ्यहीन प्रयास हुआ जिसे 'सेक्युलर' या प्रगतिशील लेखन कह सकते हैं। एक ओर उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के गुणगान किये, ब्रिटिश साम्राज्य की सफलताओं को उनकी महत्वपूर्ण देन तथा बरकते बतलाया, और उनकी तरह भारत को एक बनता हुआ राष्ट्र कहा। उन्होंने भारतीय इतिहास में मिश्रित संस्कृति, मिलाजुला राष्ट्र के भावों को प्रकट करने के लिए तथ्यों को गढ़ा तथा बदला। भारतीयों का उसके गौरव तथा यशपूर्ण अतीत से नाता तोड़ने का जानबूझकर प्रयास किया। मुगल शासकों को महिमामंडित किया तथा भारतीय वीरों के प्रसंगों को इतिहास से निकालने के प्रयास किये। मुगल शासकों को भारत का 'राष्ट्रीय शासक' बतलाया। चुनावी वोट की तुच्छ राजनीति के कारण मुस्लिम तुष्टीकरण को बढ़ावा दिया। हिन्दू हितों की उपेक्षा करते हुए इतिहास को लिखवाया। यद्यपि इसका प्रारंभ डॉ. ताराचन्द्र के 'इन्फुंलेश ऑफ ईस्लाम ऑन इंडियन कल्चर' से हुआ, परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात यह तेजी से बढ़ा।

यह सोचना निराधार होगा कि भारतीय ऐतिहासिक तथ्यों से खिलवाड़ पूर्णतः एक पक्षीय होता रहा। समय-समय पर भारत के प्रबुद्ध विद्वानों तथा इतिहासकारों ने इन फैलाई गई विसंगतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। ये विद्वान प्रायः वे रहे जो भारत की सांस्कृतिक तथा



आध्यात्मिक विरासत पर गर्व करते हैं, जिन्होंने ईसाई पादरियों, मुस्लिम चाटुकार लेखकों तथा ब्रिटिश व मार्क्सवादी इतिहासकारों की अवैज्ञानिक, विसंगतिपूर्ण, अतार्किक, तथ्यहीन तथा भ्रामक धारणाओं को किंचित भी स्वीकार न किया। सामान्यतः ये सभी विद्वान लेखक भारत, उसकी परम्पराओं तथा उसके ऐतिहासिक तथा श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति श्रद्धा तथा उसकी सुरक्षा, समृद्धि के प्रति सजग रहे।

प्रायः इन सभी लेखकों ने भारत के सही, निष्पक्ष तथा तथ्यपूर्ण इतिहास लिखने की प्रेरणा दी। भारतीय परतन्त्रता के काल में संभवतः बंकिम चट्टोपाध्याय पहले विद्वान लेखक थे जिन्होंने अपने प्रसिद्ध पत्र 'बंगदर्शन' में अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन का आह्वान किया। उन्होंने अपनी यह वेदना बार बार अपने उपन्यासों में व्यक्त की, उन्होंने मुसलमानों तथा अंग्रेजों द्वारा लिखे गए विकृत तथा झूठे इतिहास का विरोध किया। साथ ही यूरोपीयन इतिहासकारों के लिखे भारतीय अतीत के वर्णन को झूठा तथा कोरी गप्पों से युक्त बतलाया।

स्वामी विवेकानन्द ने भी अंग्रेजों के इतिहास लेखन के अनुकरण की प्रवृत्ति की कटु आलोचना की। उन्होंने बतलाया कि अंग्रेजों द्वारा लिखित इतिहास से हमारा मस्तिष्क विकृत नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह केवल पतन की कहानी दर्शाता है। उन्होंने भी आह्वान किया कि अब समय है कि हमें प्राचीन भारतीय हजारों सालों में पली सभ्यता के लिए अपना स्वतंत्र मार्ग ढूँढें। उन्होंने 1891 में विद्यार्थियों के एक समूह में कहा था 'अंग्रेजों तथा अन्यो (पाश्चात्य लेखकों) द्वारा लिखा गया हमारे देश का इतिहास हमारे मनो को कमजोर नहीं कर सकता क्योंकि वे केवल पतन की चर्चा करते हैं। ऐसे विदेशी भी जो हमारे स्वभाव, रीतिरिवाजों, धर्म या दर्शन के बारे में बहुत कम जानते हैं वे भारत के बारे में विश्वसनीय तथा निष्पक्ष इतिहास कैसे लिख सकते हैं। स्वाभाविक रूप से उससे अनेक कथन झूठे तथा गलत निष्कर्ष हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने अंग्रेजों द्वारा लिखित इतिहास को ऐतिहासिक अन्दाजों तथा वंशीय रूढ़ियों पर आधारित बतलाया। उन्होंने पाश्चात्य रचनाओं को छद्म ऐतिहासिक प्रचार (Pseudo historical propaganda) बतलाया। इसी भांति भगिनी निवेदिता ने भ्रामक इतिहास की आलोचना की तथा तथ्यों पर आधारित भारतीय इतिहास लेखन के सामूहिक प्रयत्न पर बल दिया। उन्होंने इसे भारतीयों द्वारा सर्वप्रथम कार्यों में से एक बतलाया। महर्षि अरविन्द ने भारतीय इतिहास को उसकी समग्रता से देखने को प्रेरित किया। उन्होंने इतिहास अध्ययन के प्रमुख पुरुषार्थ 'धर्म' को सर्वोपरि स्थान दिया।

आध्यात्मिकता के आधार पर इतिहास लेखन की प्रेरणा दी, इतिहास का अध्ययन किसी संकुचित दायरे में न समेट कर सम्पूर्ण मानवता तथा विश्व के संदर्भ में देखने को कहा। इसके साथ ही उन्होंने भारतीय इतिहासकारों में संस्कृत की कम जानकारी तथा स्वतंत्र चिंतन का अभाव बतलाया।

लोकमान्य तिलक ने पुनः वैदिक साहित्य के गंभीर अध्ययन पर बल दिया तथा विश्व के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने भारतीय इतिहास की सूक्ष्म विवेचना के लिए केवल साहित्यिक या पुरातात्विक ज्ञान पर्याप्त नहीं बल्कि ज्योतिष, भौगोलिक स्थिति एवं परिवर्तनों का अध्ययन तथा ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया।

महात्मा गांधी ने अपने पत्र 'नवजीवन' तथा ग्रंथो 'कल्कटेड वर्क्स' में बार बार कहा कि भारत में विकृत इतिहास पढ़ाया जा रहा है तथा इसे बदला जाना चाहिए। इसी भांति महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इतिहास के एकांकी वर्णन की कटु आलोचना की। 'राउज ऑफ द क्रिश्चियन पावर (दो भागों में) के लेखक बी.डी.बसु ने लिखा कि 'इंग्लैण्डवासियों से भारत के सही तथा विश्वसनीय इतिहास की आशा करना सर्वथा असम्भव है।' कश्मीर विश्वविद्यालय में रहे उपकुलपति सरदार के.एम.पन्निकर का कथन है कि 'गलत तथा झूठा इतिहास बदला जाना चाहिए।' प्रसिद्ध विद्वान आनन्द के. कुमारस्वामी ने भी लिखा, 'किसी भी संस्कृति को इसके अन्दर से ही ठीक तरह से देखा जा सकता है। अपने ही इतिहास से छेड़छाड़, थोपा हुआ इतिहास कब तक पढ़ेंगे। पश्चिम के इतिहासकारों के सहारे कब तक पराजय का बोध तथा हीनता के पोषक इतिहास के मंच पर हम विदुषकों ने पश्चिम की नकल में अपने को खो दिया है।' व्यावसायिक इतिहासकारों में ऐसे इतिहासकार तो नाममात्र के हैं जिन्होंने भ्रामक तथा विसंगतिपूर्ण इतिहास को ही लक्ष्य मानकर ग्रंथों की रचना की है। परन्तु ऐसे विद्वानों तथा इतिहासकारों की कमी नहीं है जिन्होंने अपने कठोर परिश्रम से इतिहास के विभिन्न कालों में सत्य की खोज के लिए अनेक तथ्यात्मक तथा प्रमाणिक ग्रंथ न लिखे हों।

संक्षेप में ऐसे कुछ प्रमुख इतिहासकारों को लें तो प्राचीन भारत के इतिहास पर काम करने वालों में सर्वप्रथम श्री दामोदर वामन पोतदार आते हैं जो भारतीय इतिहास कांग्रेस के संस्थापकों में से थे। इसमें उल्लेखनीय आर. जी.भण्डारकर (1837-1925), राजेन्द्र लाल मित्र (1821-1891), राखलदास बैनर्जी (1886-1930), ए.के. कृष्णा स्वामी आयंगर (1871-1953), राधाकुमुद मुकर्जी, काशी प्रसाद जायसवाल (1881-1937), नीलकण्ठ शास्त्री, सी.वी. वैद, हेमचन्द्र राय चौधरी (1892-1957), वासुदेव शरण अग्रवाल, जयचन्द्र

विद्यालंकार, ए.एस.अल्तेकर, शाम शास्त्री जैसे महान विद्वान हुए हैं।

मुस्लिम शासन के संदर्भ में कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे यदुनाथ सरकार सर्वोपरि हैं। इसी भांति जी.एस.सरदेसाई, डॉ. बालकृष्ण, डॉ. आर्शीवादीलाल श्रीवास्तव, डॉ. आर.पी.त्रिपाठी, वी.पी.सक्सेना, जी.एस.खरे, वी.जी.राजवाड़े तथा डॉ. ईश्वरीप्रसाद उल्लेखनीय हैं। जस्टिस महादेव रानाडे, सीताराम कोहली, इन्दुभूषण बेनर्जी, सरदार गण्डासिंह, सरदार फौजा सिंह ने महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। पी.शरण, के.एस.लाल, ए.आर.कुलकर्णी आदि प्रमुख हैं।

सामान्यतः भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन वर्तमान काल के लेखकों का मुख्य विषय रहा। इसमें उल्लेखनीय लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक, वीर सावरकर, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर, सुभाषचन्द्र बोस तथा महात्मा गांधी हैं। डॉ. रमेश चन्द्र मजूमदार, एस.एन.सेन, एम.एन.दास, बी.आर.नन्दा, पी.एन.चोपड़ा, एस.सी.सेन, ताराचन्द्र, टी.के. रवीन्द्रम आदि ने महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। देश के आर्थिक इतिहास पर दादाभाई नौरोजी तथा रमेशचन्द्र दत्त ने विशेष प्रकाश डाला है, इसके अलावा रघुनन्दन प्रसाद शर्मा की पुस्तक 'भारत का आधुनिक इतिहास लेखन' उपयोगी है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होता है कि भारत पर मुस्लिम आक्रमणों तथा यूरोपियन घुसपैठियों तथा उनकी राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं, धर्म परिवर्तन के प्रयासों, आर्थिक लूट तथा व्यक्तिगत धन प्राप्ति की इच्छाओं ने भारत के इतिहास में अनेक भ्रांतियों तथा तथ्यहीन विश्लेषणों को स्थान दिया। पहले मुसलमानों तथा बाद में ईसाई पादरियों, ब्रिटिश प्रशासकों तथा इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की मनमानी व्याख्या की। स्वतंत्रता के पश्चात भी इन्हीं विसंगतियों को राजसत्ता के मद में डूबी कांग्रेस, भारतीय कम्युनिस्ट तथा तथाकथित सेक्यूलवादियों ने इन विकृतियों को आगे बढ़ाया। प्रयत्नपूर्वक भारतीय जनमानस को इसके गौरवमय अतीत से अलग करने के योजनापूर्वक प्रयास हुए। राष्ट्रीय अस्मिता को विस्मृत करने के प्रयास हुए। इतिहास लेखन को राजनीति की दासी बनाने के प्रयत्न किये गये।

अतः विश्व के प्राचीनतम राष्ट्र भारत राष्ट्र के सुन्दर उपवन को बीहड़ झाड़ियों तथा कंटीले जंगल में परिवर्तित कर दिया गया। आध्यात्मिकता, धर्म तथा नैतिकता के आधार पर विश्व को मार्ग प्रशस्त करने वाले राष्ट्र को कोरी भौतिकवाद तथा सुविधाभोगी बनने के लिए प्रवृत्त किया।

अतः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत को एक सुदृढ़ सबल

राष्ट्र बनने के लिए अपने अतीत की ओर निहारना होगा। तथ्यों पर आधारित राष्ट्र के चैतन्य के प्रकाश में, भ्रम तथा विसंगतियों के मकड़ जाल को हटाकर, झूठ का आवरण हटाना होगा। सैकड़ों वर्षों से पीड़ित भारतीय जन समाज में आत्म गौरव, स्वाभिमान का भाव जगाते हुए भारतीय अतीत की सही और संतुलित तस्वीर रखनी होगी।

यद्यपि भारतीय इतिहास के हजारों पन्ने, इन विकृत विसंगतिपूर्ण तथा साथ ही तथ्यरहित अप्रामाणिक तथा असम्बन्ध प्रसंगों तथा घटनाओं से भरे पड़े हैं परन्तु इसमें कुछ निम्नलिखित कुछ विशिष्ट भ्रांतियों की ओर ध्यान दिया गया है, जिनका तथ्यों के आइने में सरलता से निराकरण किया जा सकता है। केवल आवश्यकता है इधर उधर बिखरे तथ्यों को संजोकर, विश्व के सम्मुख दृढ़ता तथा परिश्रम से रखने की।

भारतीय इतिहास में ऐसे सैकड़ों प्रसंग घटनाएं, तिथियां तथा अवधारणाएं हैं जिनका तथ्यों के आधार पर पुनः परीक्षण करने की नितांत आवश्यकता है, तथापि कुछ विशिष्ट विकृतियों, विसंगतियों के बारे में यहां विचार किया गया है।

### कुछ विशिष्ट भ्रम तथा विकृतियां

1. भारत में इतिहास जानने के साधनों का अभाव है
2. आर्यों के बारे में नस्लीय भ्रांति
3. आर्यों का भारत पर आक्रमण : एक मिथक
4. आर्य द्रविड : एक कृत्रिम विवाद
5. भारतीय कालगणना : एक धूर्ततापूर्ण षडयंत्र
6. सिन्धु घाटी का विनाश कैसे हुआ : एक भ्रामक प्रचार
7. वेद गडरियों के गीत : अज्ञानता का सूचक
8. संस्कृत : एक मृत भाषा
9. रामायण महाभारत : काल्पनिक रचनाएं
10. आद्य जगत गुरु शंकराचार्य की तिथि के बारे में भ्रम
11. क्या सिकन्दर महान था ?
12. मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकार : चाटुकारिता का दर्पण
13. क्या मुगल राष्ट्रीय शासक थे ?

14. भारतीय इतिहास का काल विभाजन : एक काल्पनिक कुचेष्टा
15. 1857 का संघर्ष : एक सैनिक विद्रोह
16. भारत एक राष्ट्र या महाद्वीप ?
17. बाँटों और राज्य करो : एक धूर्ततापूर्ण योजना
18. भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन : जानवरों की लड़ाई

### **भारत में इतिहास जानने के साधनों का अभाव है**

भारतीयों में हीन भावना पैदा करने तथा भारतीय इतिहास को विकृत करने के लिए अनेक ब्रिटिश इतिहासकारों तथा यूरोपीय विद्वानों ने यह भ्रमजाल फैलाया कि भारत का न कोई इतिहास उपलब्ध है और न ही भारतीयों को इतिहास लिखने की कोई अवधारणा थी।

इस निर्मूल तथा अतार्किक विचार के प्रारम्भकर्ताओं में जेम्स मिल का नाम लिया जा सकता है जिसने 1817 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया' में लिखा कि भारत में हिन्दू, मुस्लिम विजय से पूर्व इतिहास के बारे में पूर्णतः अज्ञानी है। उनका भूगोल, तिथि वर्णन तथा इतिहास 'विकराल, बेहूदा तथा असंगत' है। हिन्दू ऐतिहासिक साधनों का पूर्णतः अभाव है। उनके पास सिकन्दर जैसे अभियान का भी कोई दस्तावेज नहीं है। लार्ड मैकाले ने भारतीय इतिहास को 'बेहूदा इतिहास' बताया। लुई डिकिन्सन (1862-1932) ने भ्रामक प्रचार किया कि 'कोई' हिन्दू इतिहासकार है ही नहीं। इंग्लैण्ड के जूलियस एंगलिश ने भारतीय इतिहास को 'उपाख्यान, कल्पित तथा परम्परा' बतलाया। आर्थर एंथोनी मैकडॉनल्ड (1854-1930) ने भारतीय साहित्य में इतिहास को 'एक कमजोर पक्ष' कहा है। प्रसिद्ध आस्ट्रियाई प्राच्यविद मोरिन विंटरनिट्ज़ (1863-1937) ने लिखा कि, 'भारतीयों के पास उपाख्यायिकाएं व पुराण हैं, अर्थात् वर्णात्मक कल्पित कथाएँ व आख्यान हैं, कोई इतिहास नहीं है।' इसी प्रकार के विचार जान फ़ैथफुल फ्लीट (1847-1917), माउंटस्टुअर्ट ऐलीफिन्स्टन (1779-1859) कोवेल, विसेंट आर्थर स्मिथ (1843-1930) आदि ने दिये हैं।

परन्तु यह भी कहना गलत न होगा कि कतिपय विदेशी इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों ने इन भ्रामक प्रचार तथा खोखले तर्कों का खण्डन भी किया है। उदाहरणतः मि. डो ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ हिन्दुस्तान' की भूमिका में लिखा कि ब्राह्मणों द्वारा अनेकों दस्तावेज केवल उपाख्यान (Legends) नहीं हैं। मि. विल्सन ने लिखा है, "यह कहना गलत

है कि हिन्दुओं ने कभी इतिहास का संकलन नहीं किया। दक्षिण का साहित्य अनेक हिन्दू लेखकों द्वारा स्थानीय इतिहासों से भरपूर है।" मि. स्टीर्लिंग उडीसा में अनेक कालानुसार वृतांत की बात कहता है। कर्नल टाड ने राजपूताने के इतिहास पर स्वयं अदभुत ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित की थी।

भारत के अनेक विद्वानों ने, अंग्रेज इतिहासकारों के भ्रामक कुप्रचार का खण्डन किया है। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी विवेकानन्द तथा उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने अपने भाषणों, लेखों तथा ग्रंथों में उस भ्रामक प्रचार की भर्त्सना की तथा कठोर शब्दों में आलोचना की। भगिनी निवेदिता ने अपने ग्रंथ 'फुटफाल्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री' (लंदन 1932) में दो प्रसिद्ध लेख 'सम प्राबलम्स आफ इंडियन रिसर्च' (पृ. 176-186) तथा 'द हिस्ट्री आफ इंडिया एण्ड इट्स प्राबलम्स' (पृ. 6-25) में उस मूल समस्या का विचार करते समय अंग्रेज विचारकों की भ्रामक धारणाओं का खण्डन किया है। सही तो यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ से प्राचीन काल तक भारत में अनेक इतिहासकार हुए हैं। जब यूरोप में 'अन्धकार काल' था, उससे पूर्व भारत में दिव्य प्रकाश था। भारत के ऋषि मनीषियों ने विभिन्न राजा महाराजाओं के जीवन का ही नहीं, बल्कि उनके नैतिक तथा सांस्कृतिक आधार पर भी मूल्यांकन किया। देश में सामाजिक सांस्कृतिक चेतना जगाई जो यूरोप में दुर्लभ थी। एक प्रसिद्ध विद्वान ने प्राचीन भारत के चार युगों के अनुसार इतिहासकारों के नामों का वर्णन किया है। इनमें कालाक्रमानुसार सतयुग में देवगुरु बृहस्पति, देवर्षि नारद, उशना, मनु, महर्षि कण्व प्रसिद्ध हुए। त्रेतायुग में महर्षि बाल्मीकी तथा याज्ञवल्क्य हुए। द्वापर युग में पराशर, भीष्म, कृष्ण द्वेपायन (महर्षि वेदव्यास), वैशम्पायन, लोमहर्षण, शौनक, देवल आदि हुए। इसी भांति कलियुग के प्रारम्भ होने पर गौतम, तित्तिर, वात्स्यायन, चरक, कौटिल्य, पाणिनी, कात्यायन, पतंजलि, कालिदास, दुर्ग, बाणभट्ट, राजशेखर कल्हण, विल्हण आदि हुए।

उपरोक्त लेखों के विभिन्न ग्रंथों के पाठन से यह कहना सर्वथा मूर्खतापूर्ण होगा कि भारतीयों को इतिहास लेखन की दृष्टि या धारणा न थी। बल्कि इन लेखकों की अनेक कृतियों में, इतिहास दृष्टि से जीवन दृष्टि तथा जीवन के नैतिक मूल्यों का विश्लेषण भी मिलता है। हां, यह अवश्य है कि आज भी प्राचीन इतिहास की अनेक पुस्तकें दुर्लभ हैं। चौथी शताब्दी ई. पूर्व हुए कौटिल्य का अर्थशास्त्र 1905 में ही उपलब्ध हुआ जो प्रशासन एवं राजव्यवस्था सीखने का अदभुत ग्रंथ है। इस ग्रंथ में 250 से अधिक पूर्व ग्रंथों के सन्दर्भ दिये हैं। कश्मीर के प्रसिद्ध इतिहासकार कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में पूर्व के ग्यारह इतिहासकारों का वर्णन है। इसमें महाभारत युद्ध से पूर्व का

विस्तृत वर्णन दिया है। इसी भांति कालिदास व बाणभट्ट के ग्रंथ तत्कालीन भारतीय इतिहास पर अपूर्व प्रकाश डालते हैं।

संक्षेप में विशाल संस्कृत वाङ्मय, बौद्ध, जैन साहित्य, नेपाल राजवंशावली तथा अन्य अनेक श्रेष्ठ ग्रंथ हैं जो भारत के अक्षय साधनों के भण्डार पर प्रकाश डालते हैं। स्वामी विवेकानन्द का निष्कर्ष है कि भारत में 'विशाल धार्मिक साहित्य, काव्य—सिंधु, दर्शन ग्रंथों एवं विभिन्न शास्त्रों की प्रत्येक पंक्ति का हमारा श्रवण, विशिष्ट राजवंशों की वंशावलियां एवं जीवन—चरित्रों की स्पष्ट अपेक्षा सहस्र गुणा अधिक चित्र प्रस्तुत करती है।'

परन्तु इस सन्दर्भ में यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का विपुल ऐतिहासिक साहित्य विभिन्न कालों में अरबों, अफगानों, तारतारों, मुगलों तथा ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा नष्ट कर दिया अथवा जला दिया है। सिकन्दरियों पुस्तकालय के ध्वंस से मानवीय प्रगति एवं उसके इतिहास में बड़ी रिक्तता आयी। भारत में बोधगया में नौ—नौ मंजिले मंदिर के नष्ट होने से तथा नालंदा विश्वविद्यालय के विशाल पुस्तकालय के जला देने से हजारों ब्राह्मण, महायान तथा हिनयान बौद्ध साहित्य विलुप्त हो गया। ओदन्तपुरी मंदिर जहां ग्रंथों का अमूल्य संग्रह था मोहम्मद बिन बख्तियार खिलजी द्वारा 1212 में पूरी तरह जला दिया गया। इसी भांति सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने अन्हिलवाड़ा पाटन के प्रसिद्ध पुस्तकालय को नष्ट कर दिया था। तारीखे—फिरोजशाही से भी ज्ञात होता है कि उसने संस्कृत पुस्तकालय को नष्ट किया था। सैयद गुलाम हुसैन ने अपने ग्रंथ में औरंगजेब के द्वारा हिन्दुओं के कहीं भी ग्रंथों के बारे में नष्ट करने का वर्णन किया है। यहां तक कि जब अंग्रेज भारत से गये वे टनों भारतीय पत्रों तथा दस्तावेजों को नष्ट करके गये। इतना ही नहीं, 1984 के ब्लू स्टार अभियान में प्रसिद्ध ऐतिहासिक दस्तावेजों का भण्डार सिक्ख सन्दर्भ पुस्तकालय, अमृतसर नष्ट हो गया जो पुस्तकें प्राप्त करना आज दुर्लभ है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अनेक आक्रांताओं ने, न केवल भारत की अतुल धन राशि को लूटा, पर इससे भी अधिक दुखदायी बात यह है कि यहां की सांस्कृतिक देन को भी नष्ट किया। आज भी भारत के अनेक दुर्लभ ग्रंथ देश विदेश में बिखरे पड़े हैं परंतु जो भी प्राप्त है वह ब्रिटिश/यूरोपीय इतिहासकारों के भ्रामक तथा निर्मूल कथनों की जरा भी पुष्टि नहीं करते।

## आर्यों के बारे में नस्लीय भ्रांति

आर्यों के बारे में ब्रिटिश साम्राज्यवादी विचारकों ने दो प्रमुख भ्रांतियों को योजना पूर्व फैलाया कि आर्य कोई नस्ल या जाति थी तथा भारत में आर्य बाहर से आये। इन भ्रांतियों के प्रचार तथा प्रसार में ईसाई मिशनरियों की शरारत पूर्ण भूमिका रही।

'आर्य' मूलतः संस्कृत शब्द है। अंग्रेजी या इण्डो—यूरोपीयन अथवा इण्डो—इरानियन में यह कोई शब्द नहीं है। इण्डोनेशिया या इरानी भाषा में इसका वही अर्थ है जो संस्कृत में है। इसीलिए संस्कृत को विश्व की प्राचीनतम भाषा अथवा सब भाषाओं की माता माना जाता है। 'आर्य' शब्द कोई जातिवाचक शब्द नहीं है। आर्य शब्द किसी नस्ल, जाति, समुदाय या वंश का बोधक नहीं है।

आर्य एक गुणवाचक शब्द है जिसका अर्थ है श्रेष्ठ (Noble Right) 18 वीं शताब्दी तक यह शब्द इसी भाव से प्रयोग में हुआ है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह शब्द वैदिक तथा अन्य संस्कृत साहित्य में बार—बार प्रयोग में किया गया है। विश्व के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में यह शब्द 31 बार तथा अथर्ववेद में 5 बार प्रयुक्त हुआ है। रामायण में राजा दशरथ अपने पुत्र राम को 'आर्य पुत्र' कहते हैं। रानी कैकेयी ने जब राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास की बात कही तो दशरथ ने उसे 'अनार्य' कहा। इसी भांति महाभारत में द्रौपदी, अर्जुन को 'आर्य पुत्र' कहकर सम्मानित करती है। कुन्ती, गन्धारी सभी आर्य माताएँ हैं। कृष्ण आर्य है। कृष्ण ने अर्जुन को केवल एक बार 'अनार्य' कहा जब वह युद्ध में लड़ने के लिए दुलमुल लगा। बौद्ध साहित्य में चार 'आर्य सत्य' बतलाये गये हैं। मौर्य काल में आचार्य चाणक्य को आर्य कहा गया है। महाकवि कालिदास ने अपने विश्व प्रसिद्ध नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् में महाराजा दुष्यन्त को केवल एक बार 'अनार्य' कहा जब वह शकुन्तला को अंगूठी देने के प्रसंग को भूल जाता है। संक्षेप में 18 वीं शताब्दी तक किसी भी भारतीय ग्रंथ में आर्य शब्द 'श्रेष्ठ' के रूप में भी प्रयोग में किया है।

आर्यों के बारे में भ्रम फैलाने में जर्मन पादरी मैक्समूलर (1823—1900) का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वह जन्म से जर्मन था परन्तु उसने इंग्लैण्ड की नागरिकता अपना ली थी। वह 1846 ई. में इंग्लैण्ड पहुंच गया था। उसकी नियुक्ति प्रोफेसर माडर्न यूरोपीयन लेंग्यूजेज के रूप में हुई। जून 1847 ई. में ही उसने भारत के भाषा परिवार को दो हिस्सों में बांटा, एक को आर्यन तथा दूसरे को जनजातीय कहा। अतः उसने आर्य शब्द का अर्थ भाषा तथा नस्ल के रूप में प्रारंभ किया। 1847—1891 ई. तक आर्य शब्द का अर्थ वह मनमाने ढंग से करता रहा। 1847 ई. में ही क्रिश्चियन लेसर (Christian lesser) नामक विद्वान ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ऐनसेन्ट

इंडिया' जो तीन भागों में तथा लगभग 4000 पृष्ठों की है, इसी नस्लीय अर्थ को हवा दी। भारत तथा यूरोप की शीघ्र बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों ने बौद्धिक शब्दावली की भी नवीन व्याख्या की गई। 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अर्थात् जर्मनी के एकीकरण से पूर्व तक अर्थात् भारत की 1857 ई. के महासमर, भारत में ब्रिटेन के सीधे शासन, फ्रांस की ब्रिटेन तथा जर्मनी की दुश्मनी से एक प्रकार से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विशाल नक्कारखाने में मैक्समूलर की विवेकपूर्ण ध्वनि को कोई सुनने को तैयार न था। विद्वान जर्मन राष्ट्रवाद में परस्पर सहयोग व सम्मति थी। अतः मैक्समूलर भी भारत में ईसाईयत की जड़ें मजबूत करने में तत्पर था तथा उसने ऋग्वेद का अनुवाद भी इसी भावना से किया था, जिसके लिए उसे प्रति पृष्ठ लिखने की भारी धनराशि मिलती थी। वह मूलतः ऋग्वेद के अनुवाद से भारत के प्राचीन हिन्दू धर्म को जड़ों से उखाड़ना चाहता था। उसने इस सन्दर्भ में भारत मन्त्री डयूक आफ अर्गौल को लिखा था "भारत का प्राचीन धर्म नष्ट हो रहा है और यदि ईसाईयत भारत में प्रवेश नहीं करती तो यह किसकी गलती होगी।"

अतः आर्यों के बारे में मैक्समूलर की नस्लीय कहने की पैरवी ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा भारत में ईसाईयत के प्रचार-प्रसार की दिशा में थी। परन्तु जर्मनी के एकीकरण के पश्चात् मैक्समूलर का विवेक जागा। 1872 ई. में स्ट्रेसवर्ग विश्वविद्यालय में बोलते हुए आर्यों के सन्दर्भ में स्थिति स्पष्ट की तथा इसे 'नस्ल' के रूप में अस्वीकार किया। उसने स्वयं अपने पूर्व कथन पर सन्देह व्यक्त किया। उसने इसकी भाषा संबंधी व्याख्या पर बल दिया। उसने पुनः स्पष्ट रूप से कहा 'आर्यन, वैज्ञानिक भाषा में नस्ल के संदर्भ में इसका प्रयोग पूर्णतः अनुचित है। इसका अर्थ भाषा और केवल भाषा के अलावा कुछ नहीं है।' उसने 1891 ई. में ब्रिटिश एसोसिएशन के शरीर विज्ञान संबंधी विभाग के समक्ष बोलते हुए कार्डिफ (Cardiff) में कहा "भाषा विज्ञान (Philology) तथा शरीर विज्ञान (Physiology) के अपवित्र गठबंधन ने अब तक सिवाय शरारत के कुछ नहीं किया है।"

परन्तु अब ब्रिटिश साम्राज्य के बढ़ते हुए राजनैतिक तथा आर्थिक विश्वव्यापी प्रभुत्व के सामने विद्वान मैक्समूलर के तर्कपूर्ण विवेचन की ओर ब्रिटिश लेखकों ने जरा भी ध्यान नहीं दिया। उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन का यूरोपीयन भूमि के 1800 ई. में 55 प्रतिशत, 1878 ई. में 67 प्रतिशत तथा 1914 ई. में 84.4 प्रतिशत भाग पर कब्जा था। अतः कोई भी ब्रिटिश विद्वान, ब्रिटिश साम्राज्यवाद पुस्तक रेस इन साइंस (Race in Science) में नस्ल सिद्धांत का भण्डा फोड़ किया।

आधुनिक मानव विज्ञान के विशेषज्ञों (Anthropologists) ने भी अंग्रेज लेखकों के शरीर की बनावट के आधार पर भी आर्य तथा गैर आर्य सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया है। मानव शरीर के रंग, शरीर की ऊंचाई तथा नाक की बनावट के आधार पर वर्गीकरण बेहूदा तथा अवैज्ञानिक है। अंग्रेजों का भारतीयों के बारे में ये तर्क कि उनका काला या ब्राउन रंग, शरीर से ऊंचाई अधिक न होना तथा नाक का उतना सुडौल तथा लम्बी न होना उनके अनार्य कहने के लिए पर्याप्त है, वस्तुतः यह तर्कहीन तथा अविवेकपूर्ण कथन है। इसी भांति जीव विज्ञान के प्रबुद्ध विद्वानों ने भी रक्त के आधार को भी अस्वीकार किया। विश्व के विभिन्न देशों व प्रदेशों के लोगों में सभी को रक्त में सभी प्रकार के समान विभिन्न रक्तों के प्रकार समान है। डी.एन.ए. में भी कोई मूलतः अन्तर नहीं है।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहना सत्य होगा कि आर्य किसी नस्ल या जाति का नाम नहीं है। यह गुणवाचक संज्ञा है। प्रत्येक देश अथवा राष्ट्र में वहां का कोई व्यक्ति अपने व्यवहार से आर्य तथा अनार्य हो सकता है।

### आर्यों का भारत पर आक्रमण : एक मिथक

यूरोप के विद्वानों ने अपने राजनैतिक तथा धार्मिक हितों को ध्यान में रखकर इस भ्रांति को बड़े जोर से फैलाया। इसमें प्रमुख भाग लिया यूरोप के ईसाई पादरियों ने। इन पादरियों में प्रमुख हिस्लोप, स्टीवंशन, डॉ. जान विल्सन, राबर्ट काल्डवैल, जे.सी. मार्शमैन, आई लांग व एलेक्जेण्डर डफ है। उन्होंने इस मनगढ़ंत कहानी को जन्म दिया। इस भ्रमित कल्पना को प्रोत्साहन दिया विद्वान रस्मैक्स रस्क, डॉ. प्रीटेहार्ड व चार्ल्स लेसर ने।

इस कपोल कल्पित धारणा को फैलाने का उद्देश्य था भारत में ब्रिटिश राज्य की वैधता को स्वीकृति प्रदान करना, भारत व्यापार वाणिज्य का यूरोपीय तथा ब्रिटिश हितों के अनुसार प्रसार करना तथा ईसाईयत को भारतीयों पर लादना। डब्ल्यू. डब्ल्यू. हण्टर जैसे ब्रिटिश इतिहासकार का मत है कि भारत प्रारम्भ में एक मानव हीन भूमि (No man's land) था। अतः समय समय पर लोग आते गये। किसी अज्ञानी भारतीय ने इसमें जोड़ दिया, 'कारवां बढ़ता गया, लोग बसते गये।' समय-समय पर बाहर से लोग आते गये। आर्य भी भारत में बाहर से आये। अतः इस आधार पर अंग्रेजी शासन की भारत में वैधता पर बल दिया है।

यदि ऐतिहासिक प्रमाणों तथा तथ्यों के आधार पर उपरोक्त मनगढ़न्त मिथक का विचार करें तो धरती की खुदाई से लेकर आकाशीय ज्ञान तक अर्थात् पुरातत्व से लेकर नक्षत्र विज्ञान तक एक भी सूत्र ऐसा नहीं है जो भारत

के आर्यों के आक्रमण को स्वीकार करे। भारत के प्राचीन साहित्य में किसी भी स्थान पर कोई वर्णन नहीं मिलता जो यह बतलाये कि आर्य बाहर से आये। महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, डॉ. सम्पूर्णानन्द, डॉ. बी. आर. अम्बेडकर, पं. भगवत आदि सभी ने एक स्वर से माना है कि कोई तथ्य नहीं है जो यह बतलाये कि आर्य भारत में बाहर से आये। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने वैदिक सभ्यता को मोहनजोदड़ों से कम से कम पांच हजार वर्ष पुरानी माना है। स्वामी विवेकानन्द ने 1900 ई. के पेरिस धर्म सम्मेलन में यूरोपीय विद्वानों के इस कथन को, की भारत में आर्य बाहर से आये 'एक मूर्खतापूर्ण प्रलाप मात्र' कहा है। साथ ही यह मानसिक पीड़ा भी व्यक्त की, कि आश्चर्य है कि हमारे भारतीय विद्वान भी उन्हीं की तरह कहते हैं।' डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने भी कहा कि ऋग्वेद में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे लगे कि आर्य बाहर से आये।

भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिवेश में भी किसी भी ग्रंथ से ऐसा तथ्य नहीं मिलता कि भारत में आर्य बाहर से आये। ऋग्वेद के मैक्समूलर ने भारत में आर्यों के आगमन का भ्रम फैलाया। मिशनरी नदी सूक्त में गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों का वर्णन मिलता, इनमें से एक भी नदी ऐसी नहीं जिसका उद्गम भारत के बाहर हो। सांस्कृतिक दृष्टि से भी साहित्य के अलावा कोई अनुश्रुति, मान्यता, विश्वास, परम्परा या किंवदन्ती भी नहीं है जो यह संकेत दे कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया। पुरातत्व के क्षेत्र में अतीत से वर्तमान तक कोई ऐसी खोज या साधन सामग्री नहीं है जो विदेशी कथन की प्रामाणिकता को माने। गत कुछ वर्ष पहले कुनाल क्षेत्र (जिला हिसार, हरियाणा) की खुदाई से भी ऐसा कोई प्रमाण न मिला। प्रसिद्ध पुरातत्वविज्ञ ने इस उत्खनन के आधार पर बतलाया कि आर्य विदेशी नहीं थे और हडप्पा सभ्यता आर्य सभ्यता का ही एक अंश थी।

आर्यों के भारत आगमन की पृष्ठभूमि सर विलियम जोन्स के विचारों से ली जा सकती है उससे 1790 ई. में अपने भाषण में भारत के इतिहास में आर्यों के आगमन को 1300 वर्ष ई. पूर्व तक सीमित रखा। यद्यपि इस कथन में भी उसने चार बार परिवर्तन किये। इसके साथ उसने बहिर्गमन (Migration) का विचार भी प्रतिपादित किया। उसका यह विचार ब्रिटिश इतिहासकारों के लिए सहायक बना तथा इसी आधार पर आर्यों के भारत पर आक्रमण के सिद्धांत को गढ़ा गया।

अब ब्रिटिश इतिहासकारों ने आर्यों के भारत आगमन के काल तथा आने से पूर्व के स्थानों की काल्पनिक रचना कर डाली। 1820 ई. में जे.सी.

रोहेड्स (J. C. Rohode) ने सर्वप्रथम प्रचार किया कि भारत में आर्य मध्य एशिया से आये। 1847 में चार्ल्स लेसर ने माना की संस्कृत जानने वाले व्यक्ति पंजाब में उत्तर-पश्चिम में काबुल से आये। भाषा के आधार पर बेनफे ने आर्यों का मूल स्थान काले सागर के उत्तर में बतलाया। ग्रियर्सन ने उनका मूल स्थान जर्मनी को बतलाया। कुछ रूसी विद्वानों ने काकेशस का उनका मूल स्थान बतलाया। मैक्समूलर ने भारत में आर्यों के आगमन का भ्रम फैलाया। मिशनरी भावना से ओतप्रोत हो 1859 ई. में मैक्समूलर ने कहा, ओ हिन्दुओं! तुम सबसे पहले आक्रमणकारी थे और हम अंतिम। परन्तु हम अच्छे हैं क्योंकि हमारे पास ईसा मसीह रक्षक हैं। तुम विजित हो गए, वेदों के लिए जो बेकार नपुंसक दस्तावेज है। आओ और ईसाईयत अपनाओ। अभी देरी नहीं हुई।' (Oh Hindus! you were the earliest to invade. we are the latest. But we are better off for we have a saviour in Jesus. You are conquered, for the Vedas are worthless emasculating documents, come now, Join christianity. It is never to late) 1861 ई. में उसने अपने भाषणों में (लेक्चर्स आन द साइंस ऑफ लैंग्वेज, लंदन 1861) भारतीयों, पारसियों, यूनानियों, रोमनों, केल्टों तथा जर्मनों का इकट्ठा रहने का स्थान मध्य एशिया बतलाया। बाद में अपने तर्कों में संशोधन कर इसे एशिया में कहीं बतलाया। परन्तु उसने कोई प्रमाण न दिये।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने भी मामूली संशोधन के साथ इसे स्वीकार कर लिया। 9 अप्रैल 1866 ई. में लंदन की रायल एशियाटिक सोसायटी में थाम्पसन की अध्यक्षता में यह प्रस्ताव पास किया गया कि आर्य भारत में बाहर से आये। बाद में जेम्स टालबोयज व्हीलर तथा डब्ल्यू. डब्ल्यू. हण्टर तथा अन्य ब्रिटिश इतिहासकारों ने इन्हीं विचारों को आगे बढ़ाया। व्हीलर ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (1867) में भारतीयों को दो भागों में बांटा—आर्य तथा जनजाति के रूप में। हण्टर ने अपने ग्रंथों 'द ऐनन्लस आफ रुरल बंगाल' (दो भागों में), 'ए ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन पिपुल्स (1881) तथा 'द इंडियन एम्पायर : ईट्स पिपुल्स, हिस्ट्री एण्ड प्रोडक्ट्स (1892) में इसी विचार को फैलाया।

निःसंदेह ब्रिटिश इतिहासकारों की भूमिका तथा 1866 का प्रस्ताव राजनैतिक प्रेरित थे। इसका उद्देश्य जहां ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी रूप देने के लिए था वहां भारत में ईसाईयत की जड़ें जमाने का प्रयत्न था। निश्चित रूप से इसमें भारतीयों को उसके अतीत से काटने तथा उनमें परस्पर अलगाव बढ़ाने के प्रयत्न थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इससे ही ज्ञात होता है कि भारत की 1871 की जनगणना में सभी जनगणना अधिकारियों

को यह आदेश दिये गए कि वे जनगणना करते समय यह न भूले कि आर्य भारत में बाहर से आये।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भारतीय विद्वानों ने प्रारम्भ से ही अंग्रेजों की इस कपटपूर्ण चुनौती को स्वीकार किया। प्रसिद्ध विद्वान अविनाश चन्द्र दास ने अपने ग्रंथ 'ऋग्वेदिक इंडिया' (पृ. 61-62) में अपनी व्यंग्य पूर्ण शैली में कहा कि भारतीय आर्य न कोई औपनिवेशकर्ता थे और न ही कोई भारत में बसने वाले थे। बल्कि यही के मूल निवासी थे। स्वामी दयानन्द ने आर्यों को भारत का ही बतलाते हुए उनका मूल स्थान तिब्बत बतलाया। लोकमान्य तिलक ने इसे उत्तरी ध्रुव बतलाया। कुछ विद्वानों ने पंजाब के मुलतान अर्थात् मूलस्थान को उनका आदि स्थान बतलाया। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने सप्त सिन्धु प्रदेश को आर्यों का प्रारम्भिक स्थान बतलाया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक भारतीय विद्वानों ने सुभाष काक, एन.एस. राजाराम, के.डी. सेठी, प्रो. शिवाजी सिंह, प्रो. टी.पी. वर्मा सभी ने विभिन्न तर्कों तथा प्रमाणों से ब्रिटिश विद्वानों के तर्कों का पूर्णतः धराशायी कर दिया। भारतीय इतिहास संकलन योजना, इंडियन मिथिकल सोसायटी आदि संस्थाओं ने देश विदेश में अनेक गोष्ठियों में अपने सारगर्भित चिन्तन से अंग्रेजों के भ्रमजाल को समाप्त कर दिया। वर्तमान में कुछ भारतीय वामपंथियों, तथाकथित सेक्युलरवादियों को छोड़कर समस्त भारत के लोग गंभीरता पूर्वक इसे मान रहे हैं। अब यह विषय अतीत का बन गया है। अमेरिकन विद्वानों सीडेनबर्ग तथा डेविड फ्रोली ने इसे पूर्णतः स्वीकार किया है। भगवान गिडवानी का यह कथन महत्वपूर्ण है कि आर्य बाहर से नहीं आये बल्कि भारत से बाहर गए।

### **आर्य द्रविड : एक कृत्रिम विवाद**

ब्रिटिश इतिहासकारों ने केवल ये भ्रांति तथा मिथक को ही जन्म नहीं दिया कि आर्य बाहर से आये तथा आर्य एक नस्ल थी बल्कि ये भी भ्रांत धारणा फैलाई कि आर्यों ने यहां के स्थानीय लोगों को जड़मूल से नष्ट किया। प्रारम्भ में अंग्रेज इतिहासकार यह कहते रहे कि भारत भूमि 'मानव विहिन' थी, परन्तु आर्यों को आक्रमणकारी सिद्ध करने के लिए कुछ जातियों अथवा नस्ल के लोगों की भारत भूमि पर उपस्थिति अवश्यंभावी थी। अतः उन्होंने संस्कृत ग्रंथों के विकृत तथा मनमाने निष्कर्ष निकालते हुए भारत में अनार्यों की कल्पना की। उन्होंने आर्यों के भारत आक्रमण के फलस्वरूप यहां के मूल निवासियों को पराजित कर दास या दस्यु बनाने की कहानी भी गढ़ी तथा मूल निवासियों में द्रविड, कोल, भील, सन्थाल आदि की बात की। ब्रिटिश विद्वानों

के विभिन्न भ्रामक कथनों के समग्र चिन्तन के आधार पर उनके ये अतार्किक निष्कर्ष सहज ही ध्यान में आते हैं। प्रथम उनके राजनैतिक उद्देश्य पूर्ति के लिए ऐसे मनगढ़न्त कथन की आवश्यकता थी। उन्होंने भारत पर आक्रमण कर यहां के स्थानीय लोगों पर प्रभुत्व के आधार पर ब्रिटिश शासन के औचित्य को बनाना चाहा। दूसरे, भारत जैसे विशाल देश पर जिसको अंग्रेजों ने बार-बार उपमहाद्वीप अथवा महाद्वीप कहा, शासन बनाये रखना कठिन था अतः उन्होंने उत्तर तथा दक्षिण के लोगों में अलगाव स्थापित करना आवश्यक लगा। तीसरे उन्हें भारत में ईसाईयत के प्रचार तथा प्रसार में दक्षिण भारत अपेक्षाकृत सरल लगता था। अतः राजनैतिक तथा धार्मिक स्वार्थों के लिए उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों तथा प्रमाणों को नकार दिया।

आर्य की भांति द्रविड़ भी कोई जातिवाचक या नस्लवाचक शब्द नहीं है। दक्षिण भारत के लोगों को आर्य न मानने की बात 1700 ई. के आसपास फादर बार्थलोम्य जिगेलबर्ग ने की। पादरी काल्डवैल ने उत्तर दक्षिण के अलगाव को बढ़ाया। काल्डवैल तथा फादर बेस्छी ने एक अलग से द्रविड भाषा का व्याकरण भी बनाया जिसमें द्रविड संस्कृति को आर्यों से भिन्न बतलाया। मैक्समूलर ने 1861 में भाषा विज्ञान संबंधी भाषणों में (लेक्चर्स आन द साइंस आफ लैंग्वेजेज, 1861) दक्षिण की भाषा को अलग बताया। एडवर्ड टॉमस ने 1866 में दक्षिण भारत के लोगों को आर्यों से अलग बताया पर उसने उनके लिए 'द्रविड' शब्द का उपयोग न किया। वस्तुतः काल्डवैल ने ही अपने ग्रंथ 'कम्पेरिटिव ग्रामर आफ ड्रैविडियन लैंग्वेजेज' में सर्वप्रथम द्रविड शब्द का प्रयोग किया। भाषा विज्ञान तथा लिपिशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि द्रविड़ भाषा में आर्य शब्द उत्तर भारत के ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत के रूप में लादे गए। वस्तुतः यह पूर्णतः शरारत पूर्ण, अलगाव तथा ब्रिटिश प्रभुत्व बनाये रखने की चाल थी। डब्ल्यू.डब्ल्यू. हण्टर ने अपनी रचनाओं में आर्य-द्रविड़ विवाद को बढ़ावा दिया (देखे, द इंडियन एम्पायर : इट्स पिपुल्स, हिस्ट्री एण्ड प्रोडक्स, 1892 पृ. 385-86) इतिहास में उसे भी आर्य द्रविड़ विवाद का जन्मदाता माना जाता है। इसी भांति सर हेरिंगटन वर्नेय लावेट ने 'द्रविड़ों को भारत की प्राचीनतम नस्ल' कहा है।

1921-22 में मोहनजोदड़ों हडप्पा की खुदाई से, ब्रिटिश इतिहासकारों ने इस सभ्यता को द्रविडकालीन बताया, तो उसे आर्यों से अलग बताकर इस विवाद को और भी गहरा किया। उन्होंने इसे आर्य सभ्यता का भाग न मानकर नये झूठे तथा अप्रामाणिक विवाद खड़े किये। पर नवीनतम खोजों के सम्मुख उनके झूठे प्रलाप न चल सके। अब वे कहने लगे हैं कि हडप्पा सभ्यता के लोग वर्तमान द्रविड़ न थे बल्कि भूमध्य सागरीय द्रविड़ थे

परन्तु वे अब भी इस भांति के शिकार हैं कि वे आर्य न थे। संक्षेप में आर्य द्रविड़, उत्तर-दक्षिण आदि अलगाव को प्रयत्न पूर्वक प्रयास अनेक इतिहासकारों तथा ईसाई पादरियों द्वारा हुए। विचारणीय है कि आर्य-द्रविड़ के संदर्भ में भारतीय इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों ने प्रारम्भ से ही इसकी आलोचना की। स्वामी विवेकानन्द ने अपने भाषणों में इस कल्पित विवाद की चर्चा में इसे नस्ल के आधार पर बनाने को आधारहीन कहा। उन्होंने आर्यों को गोरा तथा द्रविड़ों को काला कहने को भी बेहूदा बतलाया। उनके पीछे अंग्रेजों का उद्देश्य हिन्दू की एकता तथा सांस्कृतिक शक्ति का ह्रास बताया। उन्होंने केवल उत्तर में आर्य तथा दक्षिण की भाषा में अन्तर बतलाया (विवेकानन्द साहित्य, भाग पांच, पृ. 179, 185 तथा भाग नौ, पृ. 280, 87) उन्होंने कहा कि जो आजकल 'हिन्दू' कहलाते हैं, वह आर्य जाति जो स्वयं संस्कृत भाषा और तमिल-भाषी दो महान जातियों का सम्मिश्रण है, समस्त हिन्दुओं को समान रूप से अपने वृत्त में ले लेती है। स्वामी विवेकानन्द इन दोनों के बीच की विभाजन रेखा प्राचीनतम काल से भाषा ही रही, रक्त नहीं। "उन्होंने व्यंग्यात्मक शैली में कहा प्रकृति की पूजा करने वाले आर्य महर्षि, अचानक आक्रमणकारी कैसे हो गये।" प्रायः सभी विद्वानों ने माना कि द्रविड़ भौगोलिक शब्द है जिसके आधार पर भाषा में अन्तर आना स्वाभाविक है। महर्षि अरविन्द ने लिखा कि ऐसा कहीं भी वर्णन नहीं जब कि आर्यो तथा द्रविड़ों में संघर्ष हुआ हो। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा कि जाति या नस्ल के सिद्धांत भारत में अंग्रेजों के आने के बाद ही प्रचलित हुए। इससे पहले इसका कोई प्रभाव नहीं मिलता कि द्रविड़ और आर्य जाति के लोग एक दूसरे को विजातीय समझते थे। वस्तुतः द्रविड़ आर्यों के ही वंशज हैं। इसी भांति डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने माना है कि दास या दस्यु पृथक जातियां न थी। उन्होंने पृथक जाति मानने के दो आधार दिये हैं। उन्होंने ऋग्वेद में दो शब्दों मृधवाक् तथा आनस को दासों का गुण बताया। मृधवाक् ऋग्वेद में चार बार आया है। इसके अर्थ है 'जो मधुर नहीं बोलता'। यही अनास शब्द का अर्थ भी है। अतः मधुर भाषी न होने से जाति पृथक नहीं की जाती। उनका यही विचार आर्य-द्रविड़ संबंधों पर भी लागू होता है।

श्री रामदास गौड़ के अनुसार इतिहास में भ्रष्ट या संस्कार विहीन की स्वतः ही अलग-अलग जातियां बनती गईं, परन्तु उन्हें किसी ने बनाया नहीं है।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आर्य द्रविड़ में नस्लीय आधार पर कोई अन्तर नहीं है। दोनों के रक्त संबंध एक से रहे तथा द्रविड़ आर्यों के वंशज हैं। परन्तु भौगोलिक स्थिति के कारण अन्तर अवश्य है तथा

इसी के फलस्वरूप भाषा में भी अन्तर देखा जा सकता है। इसके लिए कोई भी साहित्यिक या पुरातात्विक साधन नहीं है। जो दोनों में अलगाव सिद्ध करे। द्रविड़ भाषाओं में आज भी संस्कृत शब्दों की भरमार है। इसी भांति मोहनजोदड़ों हडप्पा में प्राप्त सभ्यता में भी दोनों में कोई अलगाव नहीं है। गंभीरता पूर्वक तथ्यों के अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक संस्कृति तथा हडप्पा संस्कृति में व्याप्त एक ही सभ्यता है। अतः आर्य द्रविड़ का भेद एक कृत्रिम तथा स्वार्थ मूलक है तथा इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

### **भारतीय काल गणना : एक धूर्ततापूर्ण षडयंत्र**

भारतीय इतिहास संकलन योजना के संरक्षक श्री मोरोपन्त पिंगले ने लिखा "काल गणना किसी भी राष्ट्र के नागरिकों की प्रबुद्धता एवं जागृति का सूचक है। यह मानवीय सभ्यता के विकास एवं उत्कर्ष की द्योतक है। कालगणना मानव द्वारा विभिन्न प्राकृतिक, सामाजिक तथा राजनैतिक घटनाक्रम को कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में देखने की योग्यता एवं चेतना का प्रतीक है। यह चेतना पृथ्वी के किस खण्ड में कितने प्राचीनतम काल से विद्यमान है, इसका प्रमाण तद्देशीय काल गणनाएं हैं।"

ठाकुर रामसिंह ने भारत कालगणना के सन्दर्भ में लिखा, "भारत कालगणना ही विश्व में ऐसी गणना है जो उस काल से संबंधित है जो सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त करता है। विश्व में प्रचलित गणनाओं का संबंध उस काल से न होकर देश विशेष अथवा जाति विशेष अथवा वर्ग विशेष अथवा पुरुष विशेष के साथ है। इतना ही नहीं, भारतीय कालगणना ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, सृष्टि चक्र के प्रारम्भ, काल पुरुष और इतिहास पुरुष की स्थापना के बारे में बताती है और इसी कारण इसका स्वरूप वैज्ञानिक ही नहीं वैश्विक है।

भारतीय काल गणना पूर्णतः वैज्ञानिक सिद्धांतों पर आधारित है। वेदों में उसके वैज्ञानिक स्वरूप का वर्णन है। इसमें समयानुसार आवश्यक संशोधन परिवर्तन भी होते रहे। इसके परिणामस्वरूप भारत में गणित तथा ज्योतिष का आश्चर्यजनक विकास हुआ।

भारतीय कालगणना के दो पक्ष माने जाते हैं ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति तथा पृथ्वी पर प्राणी सृष्टि का प्रारम्भ। करोड़ों वर्षों की ब्रह्माण्डित उत्पत्ति के आधार पर मानव उत्पत्ति के 197 करोड़ वर्षों के इतिहास का चित्रण किया गया। यह गणना वेद, पुराणों तथा मनुस्मृति में एक जैसी है। इसके पश्चात् निकटतम विदेशी कालगणना अर्थात् लगभग 10 करोड़ वर्ष, ई.पू. चीन, तथा खताई की लगभग 9 करोड़ वर्ष ई.पू. बताई गई है। इसके पश्चात् क्रमशः



मिश्र, पारसी, तुर्की तथा यहूदी की कालगणनायें मानी गई हैं। अन्त में यूनानी, रोमन, ईसवी तथा हिजरी मानी गई हैं। अतः इस क्षेत्र में नवीनतम कालगणना हिजरी अर्थात् 622 ई. मानी गई जब हजरत मोहम्मद साहब मक्का से मदीना गए थे।

उल्लेखनीय है कि आधुनिक यूरोपीय वैज्ञानिकों तथा अन्य विद्वानों ने इस कालगणना को तथ्यहीन तथा निर्मूल बताया, क्योंकि उनके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति केवल 4004 वर्ष ई. पूर्व हुई। पर बाद में जब भूगोल, भूगर्भशास्त्र, जीवशास्त्र, शरीर विज्ञान, खगोल शास्त्र, जीवोत्पत्ति विज्ञान की खोजे सामने आईं तो वे भी कालगणना को भारतीय मान्यता के निकट मानते हैं। इसका जन्म ई. पूर्व प्रातः 9 बजे हुआ। यह भी कहा कि जो इसे नहीं मानेगा उसे 'पाखण्डी' (Heretic) समझा जायेगा तथा उसके खिलाफ कठोर कार्रवाई की जायेगी। पाश्चात्य जगत ने ईसाइ पादरी की इस घोषणा को ईश्वरीय वाक्य की तरह सत्य माना।

विश्व के अनेक विद्वानों तथा इतिहासकारों ने इस कथन का पूरी मनोवेग से पालन किया तथा इसका प्रचार-प्रसार किया। मैक्समूलर ने इसे स्वीकार किया, विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने इसका अनुकरण किया। टायनबी ने एक हिस्टोरिकल एटलस निकाली जिसको 2000 वर्ष ई. पूर्व से शुरू किया। अमेरिका में 1975 में जान बी. स्पार्क ने विश्व का एक हिस्टोमैप तैयार किया जिसमें विश्व की सभ्यताओं का उत्थान तथा पतन दिखलाया परन्तु यह भी 2000 वर्ष ई. पूर्व से दिखलाया। इसी भांति इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में ईसाईयत के पूर्व के काल को 'अज्ञानता' तथा 'अंधकारमय' बतलाया, इतना ही नहीं, सातवीं शताब्दी में जन्मे इस्लाम के समर्थकों ने भी इसके पूर्व के काल को 'अंधकारमय' बतलाया।

यूरोपीय सभ्यता में यूनान के पश्चात् रोम सभ्यता को माना जाता है। रोम नगर का निर्माण ही 753 वर्ष ई. पूर्व हुआ। वहां लैटिन भाषा का विकास हुआ बाद में यही के शासकों ने पवित्र रोम साम्राज्य (Holy Roman Empire) की स्थापना की तथा यही से ईसाईयत का विश्व में प्रसार हुआ।

इसी भांति तुर्की ने अपने को मध्य एशिया की प्राचीन सभ्यता को बतलाया। इंग्लैण्ड का भी इतिहास प्रायः रोम के जूलियस सीज़र की जीत से प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व तो उसका इतिहास जंगली जातियों को मारकर तथा एक दूसरे को समूल नष्ट करने का है। अमेरिका का कालक्रम 16-17 वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। मुख्यतः अधिक से अधिक 1492 में कोलम्बस की यात्रा से माना जाता है। रूस के इतिहास का कालक्रम 1000 ई. से

मिलता है। वस्तुतः 19 वीं शताब्दी तक 'यूरोप' नाम का कोई महाद्वीप ही नहीं था। स्वाभाविक है कि अंग्रेजों ने भारत के प्रति मनमाने ढंग से भारतीय इतिहास की काल गणना को भारत में अपने अस्तित्व तथा प्रभुता का आधार बनाया। वास्तव में भारत में अंग्रेजों के आने से पूर्व कालगणना की कोई समस्या नहीं थी। भारतीयों वेदों से लेकर तत्काल के कालक्रम तथा कालगणना से पूर्णतः अवगत तथा निश्चित थे। वे चतुर्युग, मन्वन्तर आदि की कालगणना में दक्ष थे। वे वेदों की प्राचीनता से लेकर राम कृष्ण तथा कलियुग के आगमन तक की कालगणना सही मानते हैं।

इस क्षेत्र में अंग्रेज विद्वानों तथा इतिहासकारों ने मनमानी आज़ाएं तथा घोषणाएं की, जिनका किंचित भी तर्कसंगत या ऐतिहासिक आधार नहीं था। सर विलियम जोन्स इस दुष्ट षड्यंत्र का जनक दाता था। एक पक्का ईसाई होने के नाते उसने भी सृष्टि का जन्म पृथ्वी की आयु तथा मानव के विकास को बाइबिल के मापदण्ड से नापा। वे भी किसी भी भांति सृष्टि की रचना को 4004 वर्ष ई. पूर्व से पहले मानने को तैयार नहीं हैं। बिना किसी ठोस प्रमाण के अंग्रेजों ने भारत में आर्यों के आगमन, सिन्धुघाटी पर आक्रमण तथा वेदों की रचना की तिथि, रामायण, महाभारत के काल यहां तक महात्मा बुद्ध तथा जगत गुरु शंकराचार्य की जन्म तिथि मनमाने ढंग से गढ़ डाली। आखिर धूर्तता, बौद्धिक शरारत की भी कोई सीमायें होती हैं। कालगणना में योजनापूर्वक षड्यंत्र के द्वारा सम्पूर्ण भारतीय इतिहास की रचना को ही आधारहीन चुनौती दे डाली।

शनैः शनैः ब्रिटिश इतिहासकारों तथा अन्य विदेशी लेखकों तथा चापलूस भारतीय इतिहासकारों का भण्डाफोड़ हो रहा है। यू.एन.ओ. में वेदों की प्राचीनता तथा सिन्धु घाटी की नवीनतम उत्खननों, रामायण में ऊल जुलूल कथनों के पश्चात् भी नासा तथा अन्यत्र विपुल सामग्री, राम सेतु की वैज्ञानिक तथा पुरातत्व खोजों, एस. आर. राव की पुरानी द्वारिका का प्रकटीकरण ने भारतीय चिंतन तथा बौद्धिक तथा वैज्ञानिक विकास में भारतीय इतिहास को महत्वपूर्ण ऊंचाई तक पहुंचा दिया है।

### **सिन्धु सभ्यता का विनाश कैसे हुआ : एक भ्रामक प्रचार**

1921-22 में सिन्धु घाटी के कुछ भागों के उत्खनन की जानकारी से विश्व के पुरातत्ववेत्ताओं, इतिहासकारों तथा अन्य विद्वानों में एक खलबली सी मचा दी। अनेकों को कौतुहल हुआ तथा जिज्ञासा बढ़ी। पराधीन भारत में पुनः भारत की प्राचीनता, वैदिक सभ्यता से इसके संबंध, इसके विनष्ट होने के कारण तथा इसके विस्तार आदि पर नये नये मिथक, भ्रम, काल्पनिक अन्दाजें तथा मनमाने निष्कर्ष निकाले गये। सामान्यतः इन्हें उत्खननों, साहित्यिक

रचनाओं, प्राप्त नरककालों तथा इसकी लिपि को आधार दिया गया। कुछ विद्वानों ने तत्कालीन राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं से आकर्षित हो इसके राजनैतिक प्रेरित निष्कर्ष भी निकाले।

सिन्धु घाटी की सभ्यता पर मुख्यतः पुरातत्त्ववेत्ताओं, विद्वानों ने बृहत् विकास तथा व्यापकता तथा यहां के जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है जो भारतीय इतिहास की गौरव गाथा है। परन्तु इस लेख में इसके उद्भव काल तथा पतन के बारे में ही विचार करेंगे।

1922 से पूर्व उपरोक्त सभ्यता के बारे में कुछ पता न था परन्तु 1856 में ब्रिटिश सरकार को करांची और लाहौर के बीच रेलवे के लिए ईंटों की जरूरत पड़ी। आसपास के हडप्पा के खण्डहर से भी कुछ ईंटें ली गईं। 1922 में राखलदास बैनर्जी ने एक बौद्ध स्तूप की खुदाई करवाते समय यह अनुमान दिया कि इसके आसपास प्राचीन नगर के ध्वंसावशेष हैं। अतः जान मार्शल गार्डन चाइल्ड ने भी दोनों में समानताएं बतलाई हैं। कुछ विद्वानों ने प्राप्त अस्थिपंजरों के आधार पर इन्हें कई जातियों का बतलाया। इसमें भूमध्य सागरीय और अल्पाइन लोगों का विशेष योगदान माना। कर्नल स्पूयल तथा डॉ. बी. एस. गुहा ने अस्थिपंजरों के आधार पर इन्हें तीन जातियों का होना बतलाया। इसके अलावा अंग्रेजों ने इस मनगढ़ंत सिद्धान्त को भी बढ़ावा दिया कि द्रविड मूलतः इसी प्रदेश के रहने वाले थे, जिसे आर्यों ने खदेड़ दिया

सिन्धु सभ्यता अथवा सिन्धु-सरस्वती सभ्यता के विनष्ट होने के कारण मीमांसा जानने के लिए इस काल खण्ड को भी जानना आवश्यक है। इस बारे में पुरातत्त्ववेत्ताओं में एकरूपता नहीं है। मोर्टीयर व्हीलर इस सभ्यता को मुख्यतः 2500-1500 वर्ष ई. पूर्व मानते हैं। वूली ने यह काल 2800 ई. पू. मानते हैं। फेयर सर्विस हडप्पा सभ्यता को तीन भागों में बांटते हुए इस की अवधि 800 वर्ष ई. पूर्व मानी है। मोटे रूप से वे भी इसके उन्नति के काल को 2500-1500 वर्ष ई. पूर्व मानते हैं।

इसी भांति आलचीन ने 2150-1750 वर्ष ई. पूर्व, जी. एफ. डेल्स ने 2154-1864, ए. घोष ने 2500-1700 वर्ष ई. पूर्व, अल्ब्राइट ने 1750 वर्ष ई. को लगभग माना है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यह काल 3500-1500 वर्ष ई. पूर्व का माना गया है। कुछ विद्वान नई खोजों के आधार पर इसे 8वीं या 7वीं शताब्दी ई. पू. की मानते हैं।

सिन्धु घाटी के सभ्यता के सन्दर्भ में सर्वाधिक विवादित, भ्रमित तथा चर्चित विषय इसके विनष्ट होने के बारे में है। उपरोक्त इसके उद्भव, विस्तार तथा काल के संक्षिप्त वर्णन से भी निश्चित दिशा में बढ़ा जा सकता है। मोटे

रूप से देश विदेश के विद्वान दो भागों में बँटे हैं। प्रथम वे हैं जो ये मानते हैं कि आर्यों के भारत पर आक्रमण से यह सभ्यता नष्ट हो गई तथा शेष लोगों ने दक्षिण भारत में शरण ली। दूसरा मत है कि सिन्धु सभ्यता के लोग मूलतः आर्य हैं तथा इसका विनाश प्रकृति प्रकोप से हुआ।

मुख्यतः पहले मत के प्रणेता सर मोर्टीयर व्हीलर हैं। वह प्रारम्भ में सिन्धु घाटी के उत्खनन से जुड़ा था तथा बाद में द्वितीय महायुद्ध के अंतिम काल अर्थात् 1944 में उसे डाइरेक्टर जनरल आर्कियोलोजी सर्वे आफ इंडिया बनाया गया था। स्वाभाविक रूप से उसके विचार की अत्याधिक महत्ता रही है। उसने पहले उत्खनन के समय में इसे वहां के लोगों को ही सभ्यता बतलाया। परन्तु इस सन्दर्भ में उसकी डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल जो प्राच्यवादी तथा पुरातत्वेता भी रहे उनसे वार्ता व्हीलर के लिए मार्गदर्शक बनी। अग्रवाल ने सुझाया कि हडप्पा शब्द ऋग्वेद में प्रयुक्त हरियूपिया तथा सुरक्षा के लिए ऋग्वेद में 'पुर' शब्द का प्रयोग हुआ। इन्द्र को दुर्गा का ध्वंस करने वाला अर्थात् 'पुरन्दर' भी कहा गया है। व्हीलर ने तुरन्त उनके वाक्यों को पकड़ लिया तथा सिन्धु घाटी के विनाश के लिए शीघ्र मार्ग निकाला तथा सीमेंट्री एच (Cementry H) के लोगों को आक्रमक तथा दिवारों को 'पुर' के लिए जोड़ा तथा आर्यों का आक्रमणकारी कहा (देखे एस. आर. राव, डॉन एण्ड डीव्यूशन आफ द इन्डस सिविलाइजेशन, 1991 दिल्ली पृ. 324), यद्यपि बी. बी. लाल ने इस अर्थ का तुरन्त विरोध किया तथा कहा कि हडप्पा सभ्यता तथा सीमेंट्री एच सभ्यता के लोगों में समय का बड़ा अन्तर है। (देखे बी.बी. लाल, द इन्डस सिविलाइजेशन, ए कल्चरल हिस्ट्री आफ इंडिया (सम्पादन ए. एल. वासम) 1975 पृ. 19) पर व्हीलर ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। स्वाभाविक है कि कई विद्वानों ने उसके भ्रामक तथा योजनापूर्वक कहे गये काल्पनिक विचारों का जिनका कोई आधार न था, स्वागत किया। पाकिस्तान के विद्वान तथा पुरातत्त्ववेत्ता मुराद अली बेग ने कहा कि आर्यों ने सिन्धु घाटी के लोगों पर एक नहीं बल्कि दो बार आक्रमण किये। पहला 2000 वर्ष ई. पूर्व तथा दूसरा 1810-1300 ई. पूर्व के काल में (देख द टाइम्स आफ इंडिया, 26 अप्रैल 1996 लेख द आर्यन क्यूशन) परन्तु जी. एफ. डेलास ने इसे 'आधारहीन' कहा।

श्री के. एन. दीक्षित, ज्वाइंट डाइरेक्टर आर्कियोलॉजी सर्वे ऑफ इंडिया ने इसे पूर्णतः असत्य बतलाया। बी. के. थापर पूर्व डाइरेक्टर आर्कियोलॉजी सर्वे आफ इंडिया ने इसके बारे में लिखा "पुरातत्त्व के अनुसार यह सिद्ध नहीं होता कि आर्य बाहर से आये शांतिपूर्वक या आक्रमणकारी के रूप में।" एन.एस. राजाराम ने इसे लिपि के आधार पर कहा कि सिन्धु घाटी

की लिपि संस्कृत के अधिक निकट है। इसी भांति एफ.ए.खान तथा डॉ. रिचर्ड मीडो ने भी इसे अस्वीकार किया है।

इस सन्दर्भ में दूसरा प्रसिद्ध विचार है कि सिन्धु घाटी पर कोई आर्य आक्रमण नहीं हुआ। न ही आर्य कही बाहर से आये। इस सभ्यता का विनाश प्रकृति प्रकोप तथा जलवायु परिवर्तन से हुआ। 1940 में एम.आर. साहनी ने इस सिद्धांत को रखा कि सिन्धु सभ्यता पर प्राचीन काल से ही बाढ़ का प्रकोप बना रहा है। कुछ विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाले कि हडप्पाकालीन अनेक नगरों में अपने समय के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। ए.एस. आर. राव का कथन है कि लोथल विश्व का पहला बन्दरगाह बनाया गया था (देखें लेख लोथल ए हडप्पा पोर्टटाउन)

अतः संक्षेप में यह सभ्यता नदियों में आने वाली वार्षिक बाढ़ों तथा समय-समय पर आने वाले समुद्री तूफानों का शिकार हुई।

वहीलर तथा अन्य कुछ विद्वानों के इस अबोध कथन को कोई स्वीकार नहीं करता था कि आर्यों ने यहां आक्रमण कर भीषण हत्याकाण्ड एवं नरसंहार से इस सभ्यता को नष्ट कर दिया।

वस्तुतः यह सभ्यता नष्ट नहीं हुई बल्कि प्रकृति प्रकोप के कारण यहां के लोगों को अपना स्थान छोड़ना पड़ा तथा वे दक्षिण भारत नहीं बल्कि भारत के अनेक क्षेत्रों में विशेषकर पश्चिम की ओर अर्थात् गुजरात की ओर गये।

### वेद-गडरियों के गीत – अज्ञानता का सूचक

वस्तुतः वेद सृष्टि के प्रारम्भ से, हजारों सालों के ऋषियों, मनीषियों के अनुभवों, अनुभूतियों का अथाह सागर है।

भारत के अनेक विद्वानों ने वेदों को श्रेष्ठतम स्थान दिया है। स्वामी दयानन्द वेदों को सत्य का प्रकाश मानते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने वेद को हिन्दुओं का आदि ग्रंथ माना है। वे इन्हें 'विविध समयों पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक नियमों का संचित कोश कहते हैं। वे वेदों के दो भाग मानते हैं, जिसमें एक भाग कर्मकाण्ड और दूसरा ज्ञानकाण्ड अर्थात् एक संस्कारों से जुड़ा है तथा दूसरा आध्यात्मिक से। महर्षि अरविन्द ने वेदों को भारतीय संस्कृति का आधार माना है। पं. दामोदर सातवेलकर का मत है कि 'संसार का कोई ज्ञान ऐसा नहीं है जो वेदों में न हो।'

वेदोत्पत्ति का समय निर्धारित करना अत्याधिक कठिन है। इसे मानव सृष्टि का सहोदर ज्ञान कहा गया है। इस सन्दर्भ में 1985 में वैदिक नदी सरस्वती नदी अभियान का प्रमुख योगदान कहा जा सकता है जिसमें डॉ.

विष्णु श्रीधर वाकणकर के नेतृत्व में पुरातत्व, भूगोल, भूगर्भ, ज्योतिष, इतिहास तथा वैदिक वाङ्मय के विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों के विद्वान थे। उन्होंने चार हजार किलोमीटर की यात्रा द्वारा इसमें आये व्यापक क्षेत्रों के पुरातत्व व प्राचीन साहित्य के आधार पर सरस्वती के प्राचीनतम प्रवाह को लगभग 50,000 वर्ष ई.पूर्व का माना है। डॉ. वाकणकर इसे 25,000 वर्ष ई. से अधिक मानते हैं, अन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने भी इसे 25,000 से 50,000 वर्ष ई.पूर्व माना है। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने इसका काल 18,000 से 30,000 वर्ष ई. पूर्व कहा है। लोकमान्य तिलक ने यह अवधि 6000 से 10,000 ई.पूर्व मानी है। अतः आज विश्व में ऋग्वेद का रचना काल कम से कम लगभग 10,000 वर्ष ई.पूर्व माना जाता है।

वेद वाङ्मय में मुख्यतः चार वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद आते हैं, वेद ग्रंथों में ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, वेदांत, दर्शन तथा उपवेदों का, ज्ञान का अपार भण्डार आता है। ब्राह्मण ग्रंथ वेदों का स्पष्ट करने वाला ग्रंथ है। इसमें ऐतरेय एवं शंखायन ऋग्वेद, शतपथ, यजुर्वेद, ताण्डव साम, जैमिनीय सामवेद तथा गोपथ अथर्ववेद का प्रमुख ब्राह्मण ग्रंथ है। इसी भांति वेदमंत्रों के रहस्यात्मक अर्थ जानने के लिए आवश्यक ग्रंथों की रचनाएं हुई। इनमें ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति पर गंभीर चिन्तन हुआ। चार वेदों के अनुसार आरण्यक ग्रंथ लिख गए। उपनिषद, आरण्यक ग्रंथों का विशिष्ट अंश है। उपनिषद का शाब्दिक अर्थ है निकट बैठना। अतः आध्यात्मिक रहस्यों के निकट बैठकर समझने के प्रयास हुए। उपनिषद को एक 'आध्यात्मिक मान सरोवर' भी कहा गया है। आद्य जगत गुरु शंकराचार्य ने उन्हें ब्रह्म विद्या कहा है। उपनिषदों की संख्या 100-200 के बीच है। इसमें ईश, कठ, मुण्ड मांडूक, तित्तिरी, ऐतरेय, छांदोग्य, बृहदराणक, श्वेताश्वर आदि प्रमुख हैं। स्वामी विवेकानन्द उपनिषदों को ऐतिहासिक साहित्य के रूप में अत्याधिक महत्त्व देते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा "मैं उपनिषदों के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र से उदाहरण नहीं देता।" कुछ उपनिषद ग्रंथों का फारसी में अनुवाद मुगल सम्राटों के काल में भी हुआ। सम्भवतः अल्लोषनिषद जिसमें अल्लाह की स्तुति की गई, इसकी रचना सम्राट अकबर के काल में हुई। सम्राट शाहजहां के सबसे बड़े पुत्र दारा शिकोह ने कई उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। उसने इसे 'सिर-ए'अकबर' अर्थात् 'महान रहस्य' के नाम से पुकारा।

वेदांत को वेदों का अंग कहा गया है। अंग का अर्थ है जिसके द्वारा किसी वस्तु के स्वरूप को जानने में सहायता मिले। अतः अनेक शास्त्र-शिक्षा शास्त्र, कल्प शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, निरुक्त, छंद शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र

आदि इसमें आते हैं।

वेदों को समझने में इनकी सहायता को आवश्यक माना जाता है। यह कहा गया है कि पाणिनी व्याकरण पर अधिकार किये बिना वेदों की भाषा में पारंगत होना अत्याधिक कठिन है। 'दर्शन' में बहुउद्देशीय ज्ञान की बातें कही गई हैं। इसमें महर्षि कपिल, कण्व, पंताजलि, जैमिनी आदि के दर्शन ग्रंथ प्रमुख रूप से आते हैं। इसके अतिरिक्त उपवेदों में वेदों से जुड़ी अन्य विषय वस्तु हैं। इसमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद आदि वाङ्मय आते हैं। इसके अलावा सूत्र तथा स्मृति साहित्य भी अतुल मात्रा में है।

स्वाभाविक है वेद वाङ्मय के अपार भण्डार को देखकर अनेक पाश्चात्य तथा विदेशी विद्वानों को आश्चर्यचकित कर दिया तथा वे भौचक्य रह गये। प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने भारतीय हिन्दु ग्रंथों की सराहना भी की, कम्पनी के एक अधिकारी जान एच हालवैल (1711-1790) ने लिखा कि भारतीय हिन्दुओं के सिद्धांत ग्रंथ पुराने ईसाइयों के ओल्ड टेस्टामेंट से ज्यादा प्रभावी ढंग से प्रकटीकरण करते हैं। उसके शब्दों में "पौराणिक कथाओं तथा विश्व उत्पत्ति के सिद्धांत को, मिस्रवासियों, ग्रीकों तथा रोमवासियों से नहीं बल्कि ब्राह्मणों के सिद्धांतों से प्राप्त किया था।" इसी भांति नार्थेनियल हाल्डेड ने मानव इतिहास के विकास में चार युगों - सत, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का वर्णन किया है। क्यों कुरोफर्ड ने 1790 ई. में लिखा, "भारत, न कि मिस्र या ग्रीस कलाओं व विज्ञानों का मूल स्थान था।" फ्रांस के महान बौद्धिक चिंतक वाल्टेयर ने कहा, "मैं सहमत हूँ कि प्रत्येक वस्तु खगोल विद्या, नक्षत्र विद्या, आत्मतत्त्व ज्ञान इत्यादि हमारे पास गंगा के तटों से आये।"

परन्तु शीघ्र ही अनेक ब्रिटिश प्रशासक, विद्वान तथा ईसाई पादरी इससे भयभीत तथा सशंकित हुए। ये सभी जहां भारत में ब्रिटिश राज्य की सत्ता चाहते थे, वहां ईसाइयत के मापदण्डों से जरा भी हटने को तैयार न थे। इसमें सर्वप्रथम ब्रिटिश प्राच्यवादी सर विलियम जोन्स (1746-1794) था। वह यद्यपि 13 भाषाओं का तथा संस्कृत विद्वानों - कीथ, बुहलर, मैकडोनाल्ड की भांति इसे 1500 ई.पू. से 1200 ई.पू. माना।

सामान्यतः ब्रिटिश इतिहासकारों तथा विदेशी संस्कृत के विद्वानों ने भारत के वेदों को गडरियों या देहातियों के गीत कहा तथा ब्राह्म ग्रन्थों को जड़ बुद्धि का प्रत्यय (Tweddle of idiots) भी कहा है (देखे मैक्समूलर, ए हिस्ट्री आफ एशियंट संस्कृत लिटरेचर, लन्दन 1859, 353)

सारांश रूप में यदि ब्रिटिश इतिहासकारों तथा अन्य विदेशी लेखकों की समीक्षा करें तथा इसके पीछे उनके उद्देश्यों तथा मानसिकता का पता

चलता है।

प्रायः सभी विदेशी विद्वानों का उद्देश्य भारत को एक ईसाई देश के रूप में देखना रहा। अतः सर विलियम जोन्स से मैक्समूलर तक कोई भी विश्व की रचना अथवा इस बारे में कोई भी धारणाएँ लिए ईसाइयत की पूर्व प्रचलित धारणाओं से बाहर जाने को उत्सुक न था। उनके ध्यान में केवल प्राचीन सभ्यताओं के रूप में तीन देश अर्थात् ग्रीस, रोम या इजराईल ही आते थे।

दूसरे, प्रायः सभी भारत में विदेशी राज्य के समर्थक थे। वे भारत में अंग्रेजों का एक सुदृढ़ राज्य बनाये रखना चाहते थे।

तीसरे, अधिकतर का संस्कृत के बारे में ज्ञान अधूरा व अधकचरा था। वे प्रयुक्त संस्कृत में अक्षर, शब्द अथवा अर्थ का सही प्रयोग नहीं कर सकते अथवा जानबूझकर सही नहीं करते थे। उनके गलत अनुवादों ने अनेक भ्रांतियों का जन्म दिया। संस्कृत के एक प्रकाण्ड विद्वान के अनुसार एक एक शब्द के कई बार वेदों में बीस बीस अर्थ दिये गये हैं। अतः प्रकृति, स्थिति के अनुकूल अर्थ न होने पर मन्त्रों का अनेक बार अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

साथ ही वे वेद वाङ्मय जैसे सार्थक तात्विक ज्ञान के सम्मुख अपने अहंकार भाव को त्रस्त नहीं करना चाहते थे। अतः ब्रिटिश इतिहासकारों ने योजनापूर्वक अथवा अज्ञानवश वेद वाङ्मय की कटु आलोचनाओं के माध्यम से अनेक भ्रांत धारणाओं में से भारतीय इतिहास, धर्म तथा संस्कृति को उखाड़ने का प्रयत्न किया। अनेक वेद ग्रंथ पाश्चात्य विद्वानों की समझ में ही नहीं आये। अतः उनके भ्रामक तथा मिथक विचारों को अनुमानित, काल्पनिक तथा भ्रामिक के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता।

परन्तु इससे भी अधिक चिंता की बात है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के बुद्धिजीवी वर्ग ने भी इनकी उपेक्षा की। इन ग्रंथों के कुछ मन्त्र धार्मिक कर्मकाण्ड का भाग बनकर रह गए। इनके व्यावहारिक जीवन में संस्कारश्रम योगदान को नकार दिया गया। स्वाधीनता के पश्चात् भारत के शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में भारतीय इतिहासकारों की बैठक में वेदों का रचनाकाल 2000-1500 ई. पूर्व माना गया। अतः इससे बड़ी भ्रांति तथा अप्रामाणिकता क्या हो सकती है ?

## संस्कृत : एक मृत भाषा

एक प्रसिद्ध भाषा विज्ञान के विद्वान का कथन है, "विश्व की समस्त

भाषायें संस्कृत से लेटिन तथा ग्रीक व अरामाइक द्वारा उत्पन्न हुई है। यूरोपीय भाषाओं में एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसकी उत्पत्ति संस्कृत भाषा से न हुई हो।" भाषा के परिवर्तन में जलवायु, मानवीय परिस्थितियों, युद्ध, तकनीकी विकास व व्यापार का प्रभाव पड़ता है।

संस्कृत विश्व की जननी भाषा है। यह विश्व संस्कृतियों की कुंजी है। विश्व की विभिन्न सभ्यताओं, परम्पराओं, ज्ञान विज्ञान तथा ऐतिहासिक विकास क्रम को समझने में संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य है। इसीलिए समूचे विश्व के अनेक भाषाविदों, पुरातत्ववेत्ताओं, इतिहासकारों ने संस्कृत की भूरि भूरि प्रशंसा की है। यूरोप तथा अमेरिका के विद्वानों ने संस्कृत साहित्य, दर्शन तथा परम्पराओं का अध्ययन किया। प्रो. बोप ने प्रारम्भ में 'संस्कृत को विश्व की एक मात्र भाषा, मैक्समूलर ने 'विश्व की महानतम भाषा' माना। विल डयूरैड ने लिखा, "भारत हमारी वंशीय माता है और संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की माता है।" डयूवास ने इसे 'आधुनिक यूरोपीय भाषाओं का उदगम' माना है।

भारतीय विद्वानों ने स्वाभाविक रूप से इसे सर्वोच्च मान्यता दी। स्वामी विवेकानन्द ने 'संस्कृत शब्दों के उच्चारण को ही एक प्रकार के गौरव, शक्ति और बल देने वाला बताया है। उन्होंने इसे प्रगति के स्थायित्व का आधार कहा। संस्कृत को ज्ञान का शाश्वत भण्डार, श्रद्धा केन्द्र तथा शक्ति की खान कहा। महर्षि अरविन्द ने संस्कृत को अत्याधिक वैभवशाली, सम्पूर्ण अत्याधिक विख्यात तथा मानव मस्तिष्क के विकास का साहित्यिक यन्त्र बतलाया। महात्मा गांधी ने लिखा कि "संस्कृत के ज्ञान के बिना कोई भी सच्चा भारतीय और बुद्धिमान नहीं हो सकता।"

संस्कृत के उदगम से निरन्तर इसका विकास तथा विस्तार होता गया। 14 वीं तथा 15 वीं शताब्दी तक विश्व में इसका व्यापक विकास हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी काल में भी यह न्याय की तथा विद्वानों के बोलचाल की भाषा रही। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक संस्कृत का बोलबाला था। भारत में हजारों संस्कृत पाठशालाएँ थी। नवदीप, बादामी, काशी, अयोध्या, मथुरा, कांची, मैसूर, त्रिवेन्द्रम, उज्जैन, तंजौर आदि संस्कृत के अनेक बड़े केन्द्र थे। भारत के विभिन्न रजवाड़ों में संस्कृत पंडितों तथा विद्वानों को बड़ा सम्मान दिया जाता था।

इतना ही नहीं कम्पनी के अनेक प्रशासक तथा विद्वान संस्कृत में सम्मान के इच्छुक रहे थे। 1774 में कम्पनी द्वारा रेग्युलेटिंग कानून पास होने से भारत में प्रचलित संस्कृत कानूनों का ज्ञान भी आवश्यक लगा। अतः भारत में प्रथम ब्रिटिश प्राच्यवादी विद्वता का लक्षण समझा जाता था। साथ ही इसमें

छिपी उनके ईसाईकरण योजना को प्रोत्साहन भी मिलता था। इसी नीति का अनुसरण अन्य ब्रिटिश प्राच्यवादियों चार्ल्स विलकिंस (1749-1836) हेनरी थामस कोलब्रुक (1765-1837), होरस हेमन विल्सन (1786-1860) तथा बाद में सर अलैकजेण्डर कनिंघम, सर राबर्ट काल्डवेल, वी.ए. स्मिथ, सर जार्ज अब्राहिम गियर्सन, एफ.इ.पार्जिटर, मेकडोनोल्ड, कीथ, व्हीलर ने किया। उन्होंने प्राचीन भारत, इतिहास, पुरातत्व कला, विज्ञान, दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में यूरोपियनों को जानकारी दी परन्तु संस्कृत के प्रति चुनौती तथा ईसाईयत की भावनाओं को न भूले। यह नहीं भूलना चाहिए कि ईसाईयत की जड़े मजबूत करने के लिए संस्कृत भाषा के ज्ञान का प्रसार भी हुआ। बोडिन पीठ की स्थापना, जेम्स म्यूर की पुरस्कार योजना के पीछे संस्कृत के अध्ययन का उद्देश्य ईसाईयत का प्रसार था।

जेम्स मिल जैसे साम्राज्यवादी ब्रिटिश इतिहासकार ने संस्कृत के पाठन की कड़ी आलोचना की, उसने इसे दुर्गुण बतलाया कि इसमें एक-एक वस्तु के लिए एक निश्चित शब्द न होकर इसके अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। उदाहरण के लिए सूर्य के लिए 30, चन्द्रमा के लिए 20, वृक्ष के लिए 10 तथा पत्तियों के लिए 5 पर्यायवाची हैं। (देखे हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया, भाग दो पृ. 91) उसकी राय में पाणिनी का व्याकरण की रचना एक अस्पष्ट, संदिग्ध, परस्पर विरोधी तथा भ्रामक रचना है।

टी.बी. मैकाले ने संस्कृत के पाठन का सर्वाधिक विरोध किया। उसने 1835 में अपनी शिक्षा की टिप्पणी की घोषणा की तथा विशेषाधिकार का मत का प्रयोग कर इसे लागू किया। उसने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया। उसने संस्कृत व्याकरण की कटु आलोचना की तथा उसे 'नासेन्स' कहा। उसने यह भी कहा कि वह किसी को भी अंग्रेजी सीखने के लिए रिश्वत नहीं देगा जबकि संस्कृत के शिष्यों को यह सीखने के लिए दी जाती है। (थाम्स पिन्ने, (सम्पादित) द लैटर्स आफ टी.बी. मैकाले, भाग तीन, कैम्ब्रिज, 1976 पृ. 123)

इससे संस्कृत जिसे 'देववाणी' कहा जाता है उसकी विशिष्टता कम होती गयी। उसका उद्देश्य संस्कृत की उपेक्षा तथा इसके साहित्य की हानि तथा भारतीयों में हीन भावना पैदा करना था। इसमें आंशिक रूप से मैकाले सफल हुआ। यद्यपि 15 फरवरी 1835 को दस हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर से अंग्रेजी भाषा के विरोध में एक याचिका भी प्रस्तुत की गई। संस्कृत की घोर उपेक्षा से भारत के भविष्य की दृष्टि से दूरगामी परिणाम हुए। चुन-चुन कर संस्कृत विद्यालय बन्द कराये गये। संस्कृत के लिए छात्रवृत्तियों पर प्रतिबंध लगा दिये गए। परन्तु संस्कृत के प्रति लोगों का लगाव अभी भी बना रहा।

भारत के सामाजिक-धार्मिक जागरण में संस्कृत ने अदभुत शक्ति का परिचय दिया। स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय, लोकमान्य तिलक तथा गांधी जी ने संस्कृत के आधार ग्रंथों से देश में नव चेतना तथा जागृति स्थापित की।

संस्कृत की उपेक्षा, अधोगति तथा दुर्गति अंग्रेजों के काल में नहीं परन्तु इसको मृत प्रायः कहने की भ्रांति स्वतंत्र भारत में भारतीय विद्वानों के द्वारा हुई। भारतीय संविधान के निर्माण के समय डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने संस्कृत को राजभाषा बनाने का प्रयत्न किया। (देखें, 10 सितम्बर 1949 की भारतीय संविधान सभा की कार्यवाही) परन्तु विरोध का स्वर भी गूँजा। वस्तुतः संस्कृत की घोर उपेक्षा स्वतंत्रता के पश्चात्, तीव्रता से प्रारम्भ हुई। भाषा और संस्कृत के बारे में तीन आयोग स्थापित हुए। राधाकृष्णन आयोग (1948-अगस्त 1949) ने संस्कृत न पढ़ाये जाने पर अत्यधिक चिंता व्यक्त की। माध्यमिक शिक्षा आयोग (अक्टूबर 1952-जून 1953) ने संस्कृत की शिक्षा को बढ़ावा देने की बात की। राजभाषा आयोग (जून 1955-जून 1956) ने भी संस्कृत की शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। 1956 में संस्कृत आयोग की स्थापना की गई। इसने संस्कृत शिक्षा के विविध आयामों पर गंभीरता से प्रकाश डाला। परन्तु पाश्चात्य वातावरण में पले शिक्षित प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने, अंग्रेजी पढ़ी लिखी नौकरशाही तथा पश्चिम अन्धानुकरण तथा पाश्चात्यकरण की होड़ में लगे बुद्धिजीवियों ने आयोग के मूल प्रस्तावों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। सन 1965 में संस्कृत को अपने ही घर से निष्कासन का कार्य प्रारम्भ हो गया। जब जो कार्य मैकाले पूरी तरह से न कर सका था। अंग्रेजी को स्थायी रूप से राजभाषा बने रहने के प्रयास होने लगे। राजीव गांधी की शिक्षा नीति में संस्कृत को भाषा को अंतिम सीढ़ी पर ढकेल दिया। अब बच्चों की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा के स्थान पर अंग्रेजी से तोता रटन्त से होने लगा। इसने भारत की भावी मौलिकता तथा नैतिकता को शून्य करने का प्रयास किया। संस्कृत शिक्षा तथाकथित आर्थिक प्रगति की दौड़ में मृत प्रायः हो गई। अतः इस भ्रांति के प्रसारक न केवल अंग्रेज शासक रहे, बल्कि भारतीय शासक व नौकरशाह भी हैं। जीवन के नैतिक मूल्यों एवं संस्कारों की, वैदिक दिव्य परम्परा को छोड़ आर्थिक तथा भौतिक क्षेत्रों में क्या भारत उन्नति कर पायेगा। यह सन्देहास्पद के साथ लज्जाजनक भी है।

### रामायण तथा महाभारत : काल्पनिक रचनायें

रामायण तथा महाभारत भारतीय जनमानस की प्राणवायु है। यह भारतीय हिन्दू जीवन प्रणाली की अभिव्यक्ति है। इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति आज

भी भारत के किसी भी ग्राम, कस्बे, नगर में अथवा वनवासी, गिरिवासी, मरुस्थलवासी किसी भी हिन्दू से बातचीत कर की जा सकती है। राम का आदर्श अथवा रामायण, हिन्दुओं के सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का दर्पण है, वहीं महाभारत हमारे सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का दिग्दर्शन है। रामायण हमारे व्यक्तिगत जीवनादर्शों का प्रतिबिम्ब है वहीं महाभारत हमारे देश की राष्ट्रियता तथा सामूहिक जीवन की गाथा है। स्वामी माउंटस्टुअर्ट एलीफिस्टन ने इनमें अनेक भावात्मक तथा काव्यमय अंग अवश्य पाये। इसी भांति सर विलियम जोन्स ने रामायण का काल केवल 400 वर्ष ई.पू. बतलाया तथा महाभारत को 200 वर्ष ई.पू. का काल निर्धारित किया। अल्बर्ट वेबर ने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' में भारत के प्राचीन साहित्य को झूठा तथा काल्पनिक बताया। उसने रामायण तथा महाभारत की दोहरी व्याख्या की। उसने एक ओर रामायण तथा महाभारत और गीता को ईसाई सिद्धांतों से प्रभावित बतलाया। अर्थात् उसने रामायण तथा महाभारत को ईसा मसीह के बाद की घटनाएं बतलाया, वहां दूसरी ओर रामायण तथा महाभारत के वर्णन को ब्राह्मणों की कपोल कल्पना कहा। उसका मत है कि रामायण तथा महाभारत की कभी घटनाएं हुई ही नहीं। उसके अनुसार न कोई अयोध्या थी और न ही कोई राम नाम का शासक। इसी भांति संस्कृत के दो अन्य विद्वानों लोरिस तथा हापकिन्स ने वेबर का समर्थन करते हुए इन दोनों ग्रंथों पर ईसाइयत का प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि ये सर्वज्ञात है कि ये दोनों रचनायें तथा उनसे संबंधित घटनाएं ईसा मसीह से हजारों साल पहले की हैं। अधिकतर विदेशी लेखकों ने रामायण के काल को अधिक से अधिक 800 वर्ष ई.पू. का माना। वी.ए.स्मिथ ने इसे केवल 600 वर्ष ई.पूर्व बतलाया। पराधीनता के काल में भारत के कुछ संस्कृत लेखकों ने भी अज्ञानवश या विदेशी लेखकों के मन्तव्यों को समझे बिना उनके लिए संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद ब्रिटिश तथा विदेशी लेखकों की मानसिकता के अनुरूप किये। लोभ के लालच में भारत के कुछ संस्कृतज्ञों-मिराशी, कपिलदेव, सुधाकर द्विवेदी आदि के नाम इस प्रसंग में लिये जा सकते हैं।

भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् रामायण तथा महाभारत के सन्दर्भ में दो प्रकार की धारयें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। ब्रिटिश इतिहासकारों की भांति कुछ इतिहासकार एवं अन्य विद्वान क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों से प्रेरित हुए। उन्होंने हिन्दुओं के धार्मिक, सांस्कृतिक व आस्थाओं के स्थलों पर चहुं ओर से प्रहार किये। सरकारी रूप से इतिहास में जहां भी हिन्दू मुसलमान विवाद या मुस्लिमों द्वारा हिन्दुओं के सांस्कृतिक केन्द्रों को नष्ट किया था, इतिहास से छेड़छाड़ कर उनको पाठ्यपुस्तकों से निकाल दिया गया। रामायण तथा महाभारत को भी पाठ्यपुस्तकों से हटाकर उन्हें काव्य या गैर ऐतिहासिक

ग्रंथों में स्थान दिया। इस दिशा में तथाकथित सेक्युलरवादी इतिहासकारों तथा वामपंथी लेखकों तथा इतिहासकारों ने विशिष्ट भूमिका अपनाई। वस्तुतः राम का जीवन भारतीय जनमानस को सदैव ही आन्दोलित करता रहा है। स्वतंत्रता के पश्चात राम कृष्ण की जन्मभूमियों के प्रति सांस्कृतिक ऐक्य का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक था। विशेषकर 1987 में भारतीय टेलीविजन पर प्रसारित रामानन्द सागर के धारावाहिक 'रामायण' से उभरे देशव्यापी भक्तिभाव ने, न केवल सदियों से प्रचलित मनगढ़ंत ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी लेखकों की चिन्ता बढ़ाई बल्कि अनेक वर्षों के वामपंथी इतिहासकारों के दुष्प्रचार की भी जड़ें उखाड़ दीं। इसमें बाल्मीकी रामायण तथा तुलसीदास के रामचरितमानस की ऐतिहासिकता तथा प्रमाणिकता को जनमानस ने स्वीकार किया। वामपंथी लेखिका तथा प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापर तथा अमेरिका की पाउला रिचमैन जैसे अनेक इतिहासकार परेशान हुए। 1989 में दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जे.एन.यू.) के सभी दिग्गज वामपंथी इतिहासकारों ने आम सहमति से एक 'बयान' द्वारा घोषित किया कि राम नाम का कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ ही नहीं, रामायण केवल एक काल्पनिक रचना है। प्राचीन काल में अयोध्या थी ही नहीं और यदि थी भी तो वह सरयू के तट पर नहीं, बल्कि गंगा के किनारे थी। उन्होंने रामजन्मभूमि को एक अंधविश्वास तथा भारत की राजनीति के साम्प्रदायीकरण का कारण बताया (देखे इतिहास का बयान, असली भारत अक्टू. नवम्बर 1989, पृ. 40-42 व 46) परन्तु इन वामपंथी इतिहासकारों के असली मुखौटे सामने आ गये। उदाहरण के लिए बाल्मीकी रामायण में अयोध्या नगरी और वहां के दुर्ग तथा उसकी रक्षा का पूरा विवरण दिया गया है। साथ ही एक ओर सरयू के बहने का भी वर्णन है।

जब भारत के जनमानस ने वामपंथियों के कपोल कल्पित बयान को खारिज कर दिया तब अमेरिका की पाउला रिचमैन ने 1991 में एक पुस्तक 'मैनी रामायणाज: द डार्कवर्सेटी ऑफ़ ऐ नेरेटिव टूडीसन इन साउथ ऐशिया' लिखी। वामपंथियों ने पुनः 15 अगस्त 1993 को अयोध्या के सांस्कृतिक इतिहास पर एक प्रदर्शनी की योजना बनाई, इसमें 'मैनी रामायणाज' के आधार पर बाल्मीकी रामायण की प्रमाणिकता को अस्वीकार करने की चेष्टा की गई। राम-सीता को भाई बहिन बताने वाली इस प्रदर्शनी को विश्व हिन्दू परिषद ने विरोध किया तो वह प्रदर्शनी नहीं लग सकी। इससे रिचमैन सहित अनेक वामपंथियों को अपनी योजना पूरी होती न लगी। अतः 2000 ई. में पाउला रिचमैन ने एक दूसरी पुस्तक 'क्वैशनिंग रामायन्स, ए साउथ ऐशियन टूडीसन' सम्पादित की, इसका 'आमुख' लिखते हुए रोमिला थापर ने अपने मन की व्यथा को प्रकट किया। इसमें रामानन्द सागर के रामायण

धारावाहिक पर उमड़ते जन ज्वार पर प्रहार करते हुए उन्होंने 'रामायण' तथा रामचरित्र की प्रमाणिकता पर पुनः प्रश्न उठाये।

वामपंथियों के रामायण तथा महाभारत पर अनेक कटु प्रहारों के पश्चात भी देश विदेश में कुछ गंभीर अध्ययन तथा वैज्ञानिक तथा पुरातत्व सम्बन्धी प्रयास भी हुए। 'नासा' द्वारा राम के जन्म को काल जानने का प्रयास तथा उसे लाखों वर्ष पूर्व का बताया गया। अमेरिका के छोड़े गये सेटलाइट तथा भारत द्वारा उसी प्रकार के प्रयास भारत तथा लंका को जोड़ने वाले राम-सेतु की ऐतिहासिकता जानने के प्रयास भी चल रहे हैं। एक आधुनिक विदुषी सरोजबाला ने विभिन्न वैज्ञानिक तथा पुरातात्विक साधनों के आधार पर अपनी पुस्तक हिस्टोरियोसिटी ऑफ़ वैदिक एण्ड रामायण इराज : साइंटिफिक इवीडेसेस फ्रॉम द डैपथ आफ ओशियन्स टू द हाइट्स ऑफ़ स्काईज (दिल्ली 2012) में राम का जन्म 5114 वर्ष ई.पू. 10 जनवरी निर्धारित की है। इसी भांति पुरातत्व के विशेषज्ञ प्रो. एस.आर. राव ने भारत के पश्चिम में, समुद्र के अन्दर पुरानी द्वारिका की खोज कर, महाभारत की ऐतिहासिकता पर नव प्रकाश डालकर ब्रिटिश तथा विदेशी इतिहासकारों तथा ईसाई प्रचारकों के ऐतिहासिक प्रपंच को आधारहीन कर दिया। निःसंदेह इन प्रयासों ने रामायण तथा महाभारत की घटनाओं को भारत के ऐतिहासिक द्वार पर, तथ्यों के आधार पर लाकर खड़ा कर दिया तथा एक नवीन आशा का संचार किया।

### आद्य जगतगुरु शंकराचार्य की तिथि के बारे में भ्रम

युग प्रवर्तक आदि शंकराचार्य भारत जीवन दर्शन के प्रणेता, अद्वैत दर्शन के महान उन्नायक तथा भारत के विभिन्न मतों, सम्प्रदायों के समन्वयक तथा एकता के महान पोषक थे। उनका जन्म भारत के सुदूर दक्षिण के केरल के एक गांव कालडी में हुआ था तथा उन्होंने अपनी जीवन लीला भारत के सुदूर उत्तर में हिमालय के केदारनाथ की हिम कन्दराओं में पूर्ण की थी। उन्होंने कुल 32 वर्ष की आयु में भारत की तीन पैदल परिक्रमाएं की थीं।

शंकराचार्य की जन्म तथा पुण्य तिथि भारतीय इतिहास के अनेक घटनाक्रमों तथा भारतीय कालगणना की एक निर्णायक कड़ी मानी जाती है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उनकी जन्मतिथि के बारे में भ्रामक स्थिति उत्पन्न कर दी। इन विद्वानों द्वारा निर्धारित एवं कल्पित धारणा भारत के प्रामाणिक तथ्यों के रूप में यहां के महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में बिना किसी ऐतिहासिक आधार के पढ़ाई जा रही है। इतना ही नहीं अनेक भारतीय इतिहास लेखक भी इन पाश्चात्य विचारकों के लेखन का शिकार हैं।

सामान्यतः विद्वानों में शंकराचार्य की जन्मतिथि के बारे में दो धारणाएं प्रचलित हैं। एक धारणा है कि उनका जन्म 509 वर्ष ई. पू. हुआ तथा उनका देहावसान 477 ई. पू. हुआ। अर्थात् वह केवल 32 वर्ष जीवित रहे। पं. कोटा वेंकटचलम ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'क्रोरोनोलॉजी ऑफ नेपाल हिस्ट्री, हिस्ट्री रिकस्टर्कटेड' (विजयवाड़ा 1953) तथा जगतगुरु श्री चन्द्रशेख हरेन्द्र ने 'आदि शंकर : हिज लाइफ एण्ड टाइम्स'— (कामकोटि कांची, 1980, मूल तमिल में) में इसको ही तथ्यात्मक माना है।

इस संदर्भ में दूसरी धारणा है कि उनका जन्म 788 ई. में हुआ तथा मृत्यु 820 में हुई। अर्थात् दोनों धारणाओं में 1300 वर्षों का अन्तर है। परन्तु यह सत्य है कि सभी विद्वान उनकी जन्म तिथि वैशाख शुक्ल पंचमी मानते हैं तथा उनकी कुल आयु भी 32 वर्ष मानते हैं।

पहली धारणा कई पुष्ट प्रमाणों पर आधारित है। इसका मुख्य आधार शंकराचार्य द्वारा मठों से प्राप्त आचार्यों की नामावली तथा उसकी अवधि, जैन तथा बौद्ध साहित्य, नेपाली वंशावली तथा समय-समय पर लिखे आचार्यों के ग्रंथ हैं। यह सर्वविदित है कि शंकराचार्य ने चार मठों अथवा पीठों की स्थापना ज्योतिपीठ—बद्रीनाथ, शारदापीठ—द्वारिका, श्रृंगेरी पीठ तथा गोवर्धन पीठ—पुरी में लगभग 500 वर्ष ई.पू. की थी। इनमें अपने चार शिष्यों तीराचार्य, सुरेश्वराचार्य, इस्तिमलकाचार्य तथा पदमहापदाचार्य की नियुक्तियां की थीं। इसमें से तीन पीठों ने शंकराचार्य का जन्म 509 वर्ष ई.पू. माना है। यद्यपि शारदापीठ ने शक सम्वत्, ज्योतिपीठ ने कलि सम्वत् तथा गोवर्धन पीठ ने विक्रमी सम्वत् को आधार माना है। साथ ही जैन ग्रंथों — 'जिन विजय' तथा 'बृहत शंकर विजय' में उनकी उपरोक्त जन्म तिथि स्वीकार की है। इसी भांति एक अन्य ग्रंथ 'पुण्यलोक मंजरी' में उनकी मृत्यु तिथि 477 वर्ष पू. मानी है। अधिकतर भारतीय विद्वान इस तिथि को ही प्रामाणिक तथा विश्वसनीय मानते हैं। उदयवीर शास्त्री (ऐज् ऑफ शंकर 1981) ने हिन्दू ग्रंथों के अलावा जैन तथा बौद्ध साहित्य द्वारा भी इसी मत को माना है। आधुनिक विद्वान श्री परमेश्वर नाथ मिश्र ने अपनी खोजपूर्ण पुस्तक (अमित रेखा, 2000) में उपरोक्त तर्कों के अलावा शंकराचार्य के काल की स्थिति, उस काल में प्रचलित सिक्के, उनकी महाराजा सुधन्या से भेंट आदि का तथ्यपूर्ण वर्णन किया है। पं. कोटा वेंकटचलम ने नेपाल राजवंशावली में शंकराचार्य की नेपाल यात्रा का वर्णन वहां के सूर्यवंशी राजा वृषदेव वर्मन (547—486 ई.पू.) के समय में 487 ई.पू. बतलाया है। यह भी ज्ञात होता है कि वृषदेव ने शंकराचार्य की स्मृति में ही अपने पुत्र का नाम शंकर देव रखा था। अतः उनके नेपाल आगमन की तिथि से भी उसके पूर्व ही अर्थात् 509 ई.पू. में, उनके जन्म की पुष्टि होती है। यह

उल्लेखनीय है कि भारतीय विद्वानों ने अपनी किसी भी रचना में अपने सम्बन्ध में और न किसी रचना के काल के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा है। यही बात प्राचीन मंदिरों के सम्बन्ध में भी है। वस्तुतः यह सर्वथा भारतीय परम्परा के अनुकूल रहा है। शंकराचार्य ने भी अपनी रचनाओं—उपनिषदों, भगतवगीता तथा वेदांती सूत्रों में या अपनी ब्रह्म सूत्र अथवा शंकर भाष्य में कही भी रचना काल के बारे में कुछ भी नहीं दिया है। परन्तु यह भी सत्य है कि उन्होंने कही भी अपनी पैदल यात्राओं में मुसलमानों के बारे में एक भी अक्षर नहीं लिखा। उनके अद्वैत चिन्तन में कहीं भी मुसलमानों का वर्णन या चिंतन नहीं है। तर्क स्पष्ट है कि तब तक ईस्लाम का उदय ही नहीं हुआ था।

आद्य शंकराचार्य के बारे में दूसरी धारणा मुख्यतः पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत की है। इस संदर्भ में यह कथन आवश्यक है कि भारत के श्रृंगेरी मठ के आचार्य नित्यबोध ज्ञान (आचार्य काल 773—848) ने मठ का इतिहास व्यवस्थित करने का प्रयास किया। उन्होंने आद्य शंकराचार्य एवं सुरेश्वराचार्य के बाद अपने काल से क्रमबद्ध नामावली शुरू की। इससे एक बड़ा संकट खड़ा हुआ। तब यह धारणा प्रचलित हुई कि शंकराचार्य का जन्म विक्रमादित्य के शासनकाल के 14 वे वर्ष में हुआ। परन्तु विद्वानों ने कोई तिथि या सम्वत् नहीं दिया। प्रश्न उठा कि कौन सा विक्रमादित्य। अर्थात् उज्जैन का विक्रमादित्य या चालुक्य वंश का विक्रमादित्य। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ए.बी. कीथ ने उपरोक्त परिस्थिति का पूरा लाभ उठाया। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ द संस्कृत लिटरेचर' (पृ. 476) में अपनी संभावित राय देते हुए लिखा कि आद्य शंकर का जन्म 788 ई. में हो सकता है और सम्भवतः उनका निधन 820 ई. में हो गया हो या वे सन्यासी हो गए हों।

ब्रिटिश विद्वान की इस 'संभावना' को इतिहास के सन्दर्भ में आखिरी निर्णय तथा ऐतिहासिक तथ्य मान लिया गया। उज्जैन के विक्रमादित्य को छोड़ दिया गया, जिसके अनुसार शंकराचार्य की जन्म तिथि 509 वर्ष ई. पूर्व आती है और चालुक्य विक्रमादित्य के आधार पर इसे मान लिया गया। श्री एल. राइस ने इसे सही बताया। 1954 ई. तक श्रृंगेरी मठ में शंकराचार्य की जन्म तिथि चालुक्य विक्रमादित्य के शासन के 14 वे वर्ष से मानी जाती रही। बेलगांव में तीन ताड़पत्रों के आधार पर एक छोटी सी पुस्तक में के.वी.पाठक ने शंकराचार्य की जन्म तिथि 788 मानी। इसी आधार पर मुस्लिमपरस्त भारतीय इतिहासकार डॉ. ताराचन्द्र ने अपने पी.एचडी. के शोध ग्रंथ 'द इन्फुलेंस ऑफ इस्लाम इन इंडियन कल्चर' लिखी जिसमें शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन पर मोहम्मद साहब (570—632) के विचारों की पैरवी कर डाली। आश्चर्य तो यह है कि प्रसिद्ध विद्वान को लगता है भारत में शंकराचार्य से पूर्व



अद्वैत का चिंतन ही नहीं था।

संक्षेप में ब्रिटिश इतिहासकारों की इस सम्भावना या काल्पनिक टिप्पणी ने भारतीय इतिहास की कालगणना की 1300 वर्ष आगे संकुचित कर दिया तथा भारत के मूल अद्वैत दर्शन पर प्रहार किया। पाश्चात्य इतिहासकारों ने इसी भांति भारत के अन्य श्रेष्ठ पुरुषों तथा कालखण्डों के काल्पनिक आधारों पर अनेक भ्रान्तियों का जन्म दिया।

### क्या सिकंदर महान था ?

भारत की पराधीनता के काल में पाश्चात्य तथा अन्य विदेशी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास के विविध प्रसंगों तथा घटनाओं को इस ढंग से तोड़ मरोड़कर तथा मनमाने तरीके से प्रस्तुत किया कि वास्तविकता पर रहस्य का पर्दा पड़ गया है। स्वतंत्रता के पश्चात भी अनेक भारतीय इतिहास के ग्रंथों में उन भ्रामक तथा तथ्यहीन वर्णनों को ज्यों का त्यों लिखा जा रहा है। मकदुनिया तथा यूनान के शासक का जीवन भी इस प्रकार की विचित्र गल्प कथाओं तथा भ्रान्तियों से परिपूर्ण है। भारतीय विद्वानों के लिए सिकंदर के बारे में जानना इसलिए भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि प्रायः अधिकतर ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की प्रमुख पहली तिथि, सिकंदर के भारत पर आक्रमण अर्थात् 327 वर्ष ई.पू. को माना है।

पाश्चात्य तथा अन्य विदेशी इतिहासकारों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सिकंदर का बढ़ा चढ़ा कर यशपूर्ण वर्णन किया। सर्वप्रथम यूनानी व अन्य इतिहासकारों ने अपने युग के रोम विजेताओं को खुश करने के लिए तथा उन्हें अपने राज्य विस्तार की प्रेरणा जगाने के लिए सिकंदर को 'महान' के विशेषण से विभूषित किया। यह उल्लेखनीय है कि सिकंदर के बारे में सर्वप्रथम ग्रंथ सिकंदर की मृत्यु के लगभग 300 वर्षों के पश्चात अतिरंजित भाषा में लिखे गए। एरिंगन, कर्टियस, रूप्स, प्लूटार्क, डियोडोरस एवं जस्टिन आदि ने सिकंदर के बारे में जानकारी दी है। परन्तु इन लेखकों की शब्दावली तथा कथन को, बाद के यूरोपियन विद्वानों ने ऐतिहासिक सत्य के रूप में अपनाया।

प्राचीन भारत के किसी भी वैदिक, जैन तथा बौद्ध ग्रंथ में न तो सिकंदर के आक्रमण का किंचित भी कोई वर्णन मिलता है और न ही भारत के किसी भाग में उसका कोई अवशेष उपलब्ध है। प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकारों वी.ए. स्मिथ तथा एच.एच.डाडवैल ने यह स्वीकार किया है कि सिकंदर के आक्रमण के बारे में भारत में कोई भी पुरातात्विक तथा साहित्यिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जर्मन विद्वान विलियम्स वान पोकहेमर ने भी लिखा कि किसी

भी भारतीय रचना में सिकंदर का नाम तक नहीं है।

परन्तु यह भी सत्य है कि ब्रिटिश इतिहासकारों तथा प्रशासकों ने सिकंदर के भारत आक्रमण को महिमा मंडित करने में कोई कसर न छोड़ी। इनमें माउन्टस्टुअर्ट एलीफिन्स्टन, कर्नल टाड, वी.ए.स्मिथ, वेलन्टाइन शिरोल, वर्नेय लावेट, एडवर्ड थाम्पसन, एच.एच. डाडवैल, सभी ने सिकंदर के गुणों की प्रशंसा की है। इन सबके उद्देश्य सामान्यतः एक से थे।

सभी ब्रिटिश प्रशासकों इतिहासकारों का मूल उद्देश्य भारत में अंग्रेजी राज्य की वैधता, सुरक्षा तथा निरंतरता बनाये रखना था। अतः इसके लिए उन्होंने अनेक काल्पनिक सिद्धांतों, तथ्यहीन घटनाक्रमों तथा मनमानी व्याख्याओं का सहारा लिया। उन्होंने यह कथन गढ़ा कि किसी समय भारत भूमि 'मानव विहीन' थी। अतः समय-समय पर लोग यहां आते गये तथा बसते गये। शिरोल ने कहा कि सिकंदर भारत पर पहला यूरोपियन शासक था तथा इसके पश्चात वास्कोडिगामा के रूप में भारत में यूरोपियन का आगमन हुआ। अतः भारत में प्राचीनकाल से यूरोपियन प्रभुत्व रहा। उन्होंने इसी आधार पर ब्रिटिश शासन को पूर्णतः वैध तथा इसके औचित्य को बतलाया। इसी भांति कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत के राजनीतिक इतिहास का प्रारम्भ ही सिकंदर के आक्रमण से माना। इससे पूर्व की किसी भी तिथि को महत्वपूर्ण नहीं माना। उन्होंने सिकंदर के आक्रमण से ही भारत के इतिहास को क्रमबद्ध ढंग से माना। संक्षेप में ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की प्राचीनता तथा निरंतरता को योजना पूर्वक धूमिल करने में कोई कसर न रखी। इसी तरह से कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों जेम्स मिल, लार्ड मैकाले, माउन्टस्टुअर्ट एलीफिन्स्टन ने अंग्रेजों के जातीय उच्चतर अहंकार में हिन्दू सभ्यता को यूनानी या यूरोपियन सभ्यता से निम्न सिद्ध करने का प्रयास किया।

वर्तमान काल में सिकंदर को भारत के इतिहास के पाठ्यक्रम में 'महानता' की पदवी से विभूषित करने में सर्वाधिक योगदान साम्राज्यवादी इतिहासकार वी.ए. स्मिथ (1848-1920) का है। वह भारत में ब्रिटिश प्रशासक तथा ईसाईयत का पोषक था। वह पहला ब्रिटिश लेखक था जिसने सिकंदर के भारत आक्रमण को उसके क्रियाकलापों का विस्तार से विवेचन किया। उसने स्वयं माना कि सिकंदर के बारे में उसका अध्ययन बयूरी की पुस्तक 'हिस्ट्री आफ ग्रीस' पर आधारित है। स्मिथ ने सिकंदर का वर्णन अपनी दो प्रसिद्ध पुस्तकों में किया है। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (1904) में सिकंदर का वर्णन 63 पृष्ठों में किया है उसने भारत में सिकंदर की सफलताओं को शानदार तथा अतुलनीय (Marvelous and

incomparable) लिखा जिसमें उसने पूर्णता (Perfection पृ. 116) प्राप्त की। स्मिथ, सिकन्दर की सेना में फौली बगावत को भी कष्ट में भी एक वरदान (A blessing in disguise) मानता है तथा उसे भी सफलता का कारण बतलाता है।

इसी भांति स्मिथ ने अपनी दूसरी पुस्तक 'द आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (आक्सफोर्ड, द्वितीय संस्करण पृ. 66) में सिकंदर के आक्रमण के प्रभाव को बढ़ा चढ़ा कर लिखा। स्मिथ ने लिखा, 'इन्होंने पश्चिम एवं पूर्व की अलगाव की दीवारों को तोड़ दिया तथा यातायात के चार विशिष्ट मार्गों को खोल दिया – तीन भूमि के द्वारा तथा एक समुद्र से।' उसने 'सिकन्दर महान' की तुलना सम्राट अकबर महान के समान बतलाई। इसी भांति ब्रिटिश इतिहासकार वेलेन्टाइन शिरोल ने उसके प्रभावों को स्थायी बतलाया। स्मिथ ने 'सिकन्दर को सिवाय मृत्यु के अपने समस्त शत्रुओं के लिए अजेय' तथा अहंकार पूर्ण भाषा में सिकंदर को 'पहला यूरोपियन आक्रमणकारी' तथा उसे 'ब्रिटिश का पूर्वगामी' लिखा।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने सिकन्दर के भारत आक्रमण को वास्कोडिगामा के भारत आने से जोड़ा तथा इस ढंग से भारत के यूरोप के साथ संबंधों को जोड़ने का प्रयत्न किया गया। इन इतिहासकारों ने यूनानी परम्पराओं पर अन्धश्रद्धा रखते हुए पूर्वी सभ्यता तथा परम्पराओं को नष्ट करने में कोई कसर न रखी।

संक्षेप में ब्रिटिश इतिहासकारों ने इतिहास के तथ्यों एवं कालक्रम की धज्जियां उखेड़कर मनमाने तरीके से सिकंदर महान को भारतीय इतिहास में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। सिकन्दर भारत की धरती पर 'पहला यूरोपियन विजेता' 'भारत के राजनैतिक इतिहास का प्रारम्भकर्ता' बन गया। इतना ही नहीं ब्रिटिश इतिहासकार हैरिंगटन बर्नेय लावेट ने अपनी पुस्तक 'इंडिया' (लंदन, 1923, पृ. 5) में सिकन्दर महान को तक्षशिला में एक वैदिक विश्वविद्यालय का संस्थापक भी बताया। विचारणीय है कि स्वतंत्र भारत में पूर्णतः असत्य, तथ्यहीन तथा कपोल कल्पित इतिहास पाठ्यक्रम तथा चिंतन का विषय कब तक बना रहेगा।

### **मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकार : चाटुकारिता का दर्पण**

प्रायः 1206–1207 के शासन को मुस्लिम शासकों का काल माना है। भारत में मुस्लिम राजनैतिक प्रभुत्व, तलवार तथा मजहबी उन्माद के द्वारा हुआ। कुछ अपवादों को छोड़कर समकालीन मुस्लिम इतिहासकारों की दृष्टि इस्लाम के प्रचार तथा राजकीय चाटुकारिता की रही। उनका मार्गदर्शक वाक्य रहा

'इतिहास के लिए मुसलमान होना चाहिए, उन्हें किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। धर्मनिष्ठ मुसलमान के लिए प्रत्येक लेख पर सभी को विश्वास करना चाहिए।' इन इतिहासकारों ने कभी भी हिन्दुओं की उदारता, धार्मिक सहिष्णुता, सांस्कृतिक समरसता तथा सामाजिक एकता के भावों का कभी वर्णन नहीं किया। वे सर्वदा मुस्लिम मजहब की उच्चता तथा श्रेष्ठता, मुस्लिम शासकों के धर्मांतरण के क्रूर प्रयत्नों तथा कायर पूर्ण साहसों की अतिरंजित तथा अलंकृत प्रशंसा करते स्पष्ट रूप से दिखलाई देते हैं। वे अपने समकालीन मुस्लिम शासक के अतिशयोक्तिपूर्ण गुणों तथा राज दरबार के ठाट-बाट के गुणगान करने में कोई कसर नहीं रखते। उन्होंने अपने शासक के अपयश तथा क्रूर कारनामों को या तो छिपाया है अथवा इतिहास के पन्नों से ही गायब कर दिया है। प्रायः उनका वर्णन हिन्दुओं के प्रति नकारात्मक तथा क्रूरतापूर्ण ढंग से आक्रमक है। उन्होंने शासन के स्वरूप का साम्प्रदायिक तथा सम्प्रदाय तंत्र (Theocratic) तथा राजनैतिक नीति परक वर्णन किया है। इसमें अधिकतर इतिहासकार दरबारी थे तथा उनका वेतन, पदोन्नति तथा सम्मान उनके तत्कालीन शासक की कृपा पर निर्भर था। वे भी भावी ब्रिटिश इतिहासकारों की भांति अहंकारी तथा पदलोलुप थे। इसमें से अनेक राजनीति से जुड़ी महत्वकांक्षाओं से वशीभूत थे।

विश्व प्रसिद्ध प्रो. रमेश चन्द्र मजूमदार ने मुस्लिम काल का विशेषकर मुगल काल का वर्णन करते हुए देश के इतिहासकारों को कुछ सावधानियां रखने का सुझाव दिया है। उन्होंने मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकारों में निष्पक्षता का अभाव बतलाया है। उन्होंने तत्कालीन मुस्लिम इतिहासकारों का सूक्ष्मता से विश्लेषण करते हुए कहा कि प्रथम वे इतिहासकार अधिकतर दरबारी वृत्तांत लेखक थे। दूसरे, वे अपने शासक/सरक्षक तथा उसके परिवार के गुणों को बढ़ा चढ़ा कर तथा अवगुणों तथा दोषों को कम से कम वर्णन करते हैं। तीसरे वे कदाचित ही घटना के बाद वर्णित घटनाओं का तार्किक ढंग से रखने का प्रयत्न करते हो। चौथे, वे इसके इच्छुक रहते हैं कि उनके शासक या अधिकारियों के नैतिक अथवा अनैतिक कृत्यों का विवेचन उनके लेखन पर आधारित हो तथा उनके लेखन को नैतिकता की पाठ्यपुस्तक के रूप में लिखा जाए। पांचवे, लेखक, विवादास्पदों विषयों या घटनाओं पर अपनी आलोचनात्मक निर्णय शक्ति का कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते बल्कि सामूहिक सत्य तथ्यों को जाने बिना, जिसने जो प्राप्त साधन मिला प्रायः उससे ही संतुष्ट हो जाते हैं।

यह आवश्यक है कि अनुवाद किये हुए ग्रंथों के स्थान पर मूल ग्रंथों को पढ़ा जाए। डॉ. एस.एन. सेन ने 1938 के भारतीय इतिहास कांग्रेस के

अधिवेशन के एक भाग की अध्यक्षता करते हुए इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति से सावधान किया कि कोई भी फारसी लिखे ग्रंथ या पत्रक को हम मूल स्रोत के रूप में माने। ज्यादातर मुस्लिम इतिहासकारों के लेखन में शाही दरबार का वर्णन उसके परिवार का विवरण, सैनिक अभियानों तथा मजहबी क्रियाकलापों का वर्णन किया गया है।

मुस्लिम इतिहासकारों ने हिन्दू समाज तथा उसकी संस्कृति तथा धर्म के वर्णन को उपेक्षा की है। वे, न ही तत्कालीन न सामाजिक दशा का वर्णन करते, न ही समाज के बदलते हुए स्वरूप के आकलन करते हैं। मुख्यतः वे केवल राजनैतिक घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं।

सामान्यतः मुस्लिम इतिहासकार भारत इतिहास की एक पक्षीय, पूर्वाग्रह से ग्रसित दशा का ही वर्णन करते हैं। समाज में प्रायः सतत संघर्ष हुआ। यह दो मोर्चों पर था। एक मोर्चा सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में था तथा दूसरा राजनैतिक। उन्होंने पहले भाग को उपेक्षित किया तथा दूसरे का वर्णन भ्रामक तथा विसंगतिपूर्ण। ब्रिटिश इतिहासकारों ने इसे 'हिन्दू मुस्लिम संघर्ष' नाम दिया है। किसी भी समकालीन मुस्लिम इतिहासकार ने पठानों तथा मुगल शासकों तथा उनके राज्य को पंथ निरपेक्ष नहीं माना है बल्कि इसे मजहबी राज्य बताने में गौरव का अनुभव किया है।

इसी भांति यह भी कहना उचित होगा कि मध्यकाल के अनेक भवनों, किलों तथा प्रासादों मुस्लिम शासकों द्वारा बनाये गए जिनका वर्णन किया है, अधिकतर इतिहासकारों ने उनके निर्माण की योजना, खर्च होने वाले व्यय, निर्माण कार्य आदि का कोई विवरण नहीं दिया है। यद्यपि कुछ भवनों, मंदिरों, पुस्तकालयों, दुर्गों के तोड़ने का विस्तृत वर्णन है। मुख्यतः तत्कालीन भवनों, विद्यालयों को तोड़कर उनका नाम शासक के साथ जोड़ दिया गया।

अतः संक्षेप में मुस्लिम इतिहासकारों का वर्णन अतिरंजित है तथा प्रामाणिक व तथ्यपरक नहीं है। यदि इस्लाम के जन्म से भारत के सन्दर्भ में पठानों के काल के मुस्लिम इतिहासकारों के कुछ उदाहरण ले तो अनेक विसंगतियाँ, भ्रांतियाँ, तथा अनेक तथ्यों की जानकारी मिलती है। मोहम्मद बिन कासिम के काल अथवा इससे पूर्व भारत के विरुद्ध केवल दो आक्रमण नहीं बल्कि 14 या 15 हुए थे जिनमें नाम तथा सैनिकों की जानकारी मिलती है। (देखे के. आर. मल्कानी, द सिंध स्टोरी) कासिम के जेहाद के उन्माद में किये गये आक्रमण तथा नृशंस सामूहिक हत्याकाण्ड को प्रायः छिपाया गया। इतिहास में यह तथ्यहीन भ्रम फैलाया कि भारत के किसानों तथा जाटों ने कासिम का साथ दिया। (देखे एम. एन. राय, द हिस्टोरीकल रोल आफ

इस्लाम, नई दिल्ली 1983 पृ. 82) महमूद गजनी के मुख्य आक्रमण हिन्दुओं के विश्वास तथा श्रद्धा केन्द्रों पर हुए। इसे मुस्लिम इतिहासकारों ने प्रायः सही लिखा परन्तु रोमिला थापर सहित अन्य वामपंथी इतिहासकारों ने इसमें अपनी तथ्यहीन कहानियाँ जोड़ दी। महमूद गजनी के भानजे सालार मसूद ने 1033 में 11 लाख सेना के साथ बहराइच(यूपी.) में भयंकर संघर्ष किया। इसमें राजा सुहेलदेव ने भारत के सत्रह राजाओं के साथ मिलकर भाग लिया। इसमें मसूद का सर्वनाश हुआ। वह खुद भी मारा गया परन्तु समकालीन किसी मुसलमान इतिहासकारों ने इसका संकेत मात्र के लिए भी वर्णन किया बल्कि जान बूझकर छिपाया। वस्तुतः यह भारत का 'राष्ट्रीय युद्ध' था।

प्रश्न है कि इस महान विनाशकारी युद्ध का मुस्लिम इतिहासकारों ने वर्णन क्यों छिपाया? प्रसिद्ध ब्रिटिश विद्वान—इलियट तथा डाउनसन ने जिसने भारत के अरबी फारसी मूल ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद किया (देखे, द हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इर्ट्स ओन हिस्टोरियन्स, आठ भागों में, 1867—68) इन तथाकथित मुस्लिम इतिहासकारों की कटु आलोचना की और अपने ग्रंथ की मूल प्रस्तावना में लिखा, इन्हें इतिहास कहना मिथ्या है इन्हें अधिक से अधिक वार्षिक वृत्तांत कहा जा सकता है (Indeed, it is almost misnomer to style them histories. They can scarcely claim to result higher than annals)

तत्कालीन इतिहासकार मिनहांज उस सिराज ने अपनी पुस्तक 'तबकाते नासिरी' तथा हसन निजामी ने अपने ग्रंथ 'ताजुल उल मासिरी' में मुसलमानों के मर जाने को 'शहीद' तथा हिन्दुओं के मरने को 'जहन्नुम' में जाना या उन्हें 'शैतान' लिखा है। इसी भांति कुतुबुद्दीन ऐबक को, लाखों का वध करने वाले को 'लाख बख्श' या 'हातिमताई द्वितीय' कहकर दानी लिखा। उसके द्वारा भवनों के नष्ट करने को 'ढाई दिन का झोपड़ा' या कुतुबमीनार का निर्माता कहा। जबरदस्ती सत्ता हथियाने वाले इल्तुतुमिश को भारत का 'पहला स्थायी शासक' कहा। मोहम्मद तुगलक की विचित्र योजनाओं को 'मौलिक चिंतक' कहा। मुस्लिम शासक जो धर्मान्ध तथा स्वेच्छाचारी थे अर्थात् स्वयं 'पोप तथा सीजर' दोनों थे, चापलूस इतिहासकारों ने प्रशंसा कर अनेक पुरस्कार प्राप्त किये। प्रायः विजयनगर साम्राज्य का वर्णन ही नहीं किया।

मुगलकालीन इतिहासकारों ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की। एस.ए. ए. रिजवी ने अनेक फारसी ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद भी किया (अलीगढ़ विश्वविद्यालय, 1955—1962) परन्तु वह भी चुने हुए पृष्ठों का अनुवाद है।

स्वयं 'बाबरनामा' में अनेक वर्षों का इतिहास गायब है। उसका लेखन भी बहुत कुछ अनुमान तथा अन्दाजों के आधार पर है। उदाहरण के लिए उसने पहले इब्राहीम लोदी की सेना 5 लाख बताई फिर कहा 'एक लाख तो होगी ही।' बस अनुवादकर्ता ने एक लाख लिख दी। कुछ इतिहासकारों ने उसे काल्पनिक ढंग से चित्रित करते हुए उसे 'सेक्युलर' सिद्ध करने के लिए भूपाल में प्राप्त उसकी नकली वसीयत सही मानी, जबकि बाबरनामा के प्रथम अंग्रेजी में अनुवादिका श्रीमती बैवरेज ने 17 बिन्दु तथा तर्क देकर उसे नकली बताया। यही अतिरंजित वर्णन अकबर के काल में अनेक मुस्लिम इतिहासकारों ने किया। इसमें अबुल फजल, बदाउनी, निजामुद्दीन अहमद, मुल्ला दाउद है। इनके वर्णन कई स्थानों पर परस्पर विरोधी तथा तथ्यात्मक नहीं हैं। अबुल फजल को इसीलिए कुछ विद्वानों ने 'चापलूसी' की कोटि में रखा है।

जहांगीर जो सुरा सुन्दरी तथा सौन्दर्य का उपासक था। कई इतिहासकार उसकी तुजुक-ए-जहांगीरी की लिखी हुई भी नहीं मानते। इलियट और डाउनसन ने लिखा, 'यह बिना सोचे समझे स्वीकार कर लिया गया है कि इन संस्मरणों को जहांगीर ने लिखा है। वह ऐसा व्यक्ति न था कि इतने बड़े श्रम की कठिनाई उठावे' (इलियट और डाउनसन, पूर्व उद्धरित भाग, VI पृ. 55) इसी भांति शाहजहां के काल में उसकी शान शौकत भवन निर्माण की चर्चा की गई। कुछ ने उसके शासन काल को भारत का स्वर्ण काल भी कह दिया। परन्तु तथ्यात्मक तथा प्रामाणिक इतिहास भिन्न है। कहते हैं उसने 14 बच्चों की माँ मुमताज की याद में ताजमहल बनवाया। परन्तु उसकी हवस कभी नहीं मिटी। शाहजहां पर शोधकर्ता ने लिखा कि वह अपनी पुत्री जहान आरा में भी वह मुमताज महल की प्रतिछाया देखता था (बनारसीदास सक्सेना, हिस्ट्री आफ शाहजहां औफ दिल्ली, 1932) शाहजहां ने जीवन में 48 लड़ाइयां लड़ी थी पर सफलता नाम मात्र की पाई थी। उसने अनेक भवन जो उसके नाम से जाने जाते हैं अभी भी विवादास्पद हैं। अब्दुल हमीद लाहौरी जैसे समकालीन लेखकों ने 'पादशाहा नामा' में उसके शासन की आलोचना भी की है। इस बारे में पंडित जवाहरलाल नेहरू की टिप्पणी महत्वपूर्ण है जो लिखते हैं 'दिल्ली दरबार का म्यूर सिंहासन वर्साय (फ्रांस के) से भी ज्यादा शानदार तथा ऐश्वर्य पूर्ण था परन्तु वर्साय की भांति यह भी जनता की गरीबी तथा जन शोषण पर टिका था।'

औरंगजेब के अत्याचारों, मंदिरों के ध्वंस के अलग विभाग की स्थापना धार्मिक कटुता तो जगजाहिर है। 1707-1857 तक लगभग एक दर्जन मुगल शासक हुए। प्रायः सभी निकम्मे, निठल्ले तथा निष्ठुर थे, इन्हीं में

मोहम्मद शाह रंगीला (1719-1748) शाह आलम (1769-1806) तथा बहादुर शाह द्वितीय (1837-1857) जैसे निकम्मे शासक हुए। इतिहासकार विपिनचन्द्र के अनुसार 'बहादुरशाह जफर भारत का शक्तिहीन सम्राट था तथा विद्रोही नेतृत्व (अंग्रेजों के विद्रोह) की सबसे कमजोर कड़ी थी।'

अतः उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर समकालीन मुसलमान इतिहासकारों के आधार पर सही इतिहास का विचार गलत होगा। तात्कालिक भारतीय साधनों के द्वारा इतिहास का सही लेखन आवश्यक है। चाटुकारिता से कोई इतिहासकार नहीं बन जाता।

### क्या मुगल राष्ट्रीय शासक थे

कुछ चाटुकार सत्ता लोलुप, सेक्युलरवादियों तथा वामपंथी इतिहासकारों ने मुगल शासनकाल को भारत का 'शानदार युग' तथा मुगल शासकों को 'महान' तथा भारत का 'राष्ट्रीय' शासक बताकर एक दूरगामी भ्रम, तथा विकृति तथा विसंगति को जन्म दिया है। भारत के मुगल शासकों में पहले छह शासक (1526-1707) ही प्रमुख थे। शेष ग्यारह शासक तो निठल्ले, निकम्मे तथा निर्बल थे। अंतिम शासक बहादुरशाह द्वितीय का शासन सिमटते-सिमटते दिल्ली में, लाल किले के अन्दर, चार दीवारी के भीतर तक ही रह गया था।

मुगल शासक मूलतः विदेशी थे। उनमें सर्वथा राष्ट्रभक्ति, देश प्रेम, जन सेवा का अभाव था। उनका लगाव था मजहबी जुनून से तथा भारत की अपार धन सम्पत्ति में। अति संक्षेप में उनके व्यक्तिगत जीवन तथा कार्यों के मूल्यांकन से यह स्पष्ट होता है।

बाबर मुगलों का प्रथम शासक था। निकम्मे कबूतर बाज पिता से शराब की लत विरासत में मिली थी। उसने अपनी आत्मकथा 'तुजुक-ए-बाबरी- या 'बाबरनामा' में अपने गुरुओं का जी भर मजाक उड़ाया था, उल्लेखनीय है कि उसने अपनी आत्मकथा में अपने जीवन के कुल 48 वर्षों तथा 10 महीनों में से बीच-बीच में अनेक वर्षों का ब्यौरा छोड़कर कुल 18 वर्षों का वर्णन किया है। बाबर का भारत पर आक्रमण का कारण भारत की राजनैतिक परिस्थिति न होकर उसकी दयनीय दशा तथा मजबूरी थी। उसे न भारतीयों से जरा भी लगाव था, न भारत से, वह हिन्दुओं को 'काफिर' कहता था। वह भारत की अपार धन सम्पत्ति लूटना तथा भारत को दारुल हरब से दारुल इस्लाम बनाना चाहता था। उसने भारत को अपने पूर्वजों -महमूद गज़नी, मोहम्मद गोरी तथा तैमूरवंश का क्षेत्र बतलाया था। उसके सभी आक्रमण इस्लामी जेहाद की भावना से प्रेरित थे। उसे भारत के मुसलमान भी

पसंद न करते थे। बाबर का सबसे बड़ा टकराव मेवाड़ के राजा सांगा से हुआ था। उसने इस युद्ध को 'मोहम्मद साहब के धर्म के शत्रु दुष्ट काफिरों' से संघर्ष बतलाया था। बाबर के विजय पत्र में इसे बाबर द्वारा 'मूर्तियों की नींव का खण्डन करने वाला' लिखा है (देखें, 'बाबरनामा' का हिन्दी अनुवाद, रिजवी द्वारा पृ. 249) बाबर ने काफिरों के नरमुण्डों का एक विजय स्तम्भ बनाया, 1528 में उसने चन्देरी के दुर्ग की विजय पर लिखा - 'हमने वहां के काफिरों का संहार किया और जो स्थान वर्षों से दारूल हरब बना हुआ था, उसे दारूल इस्लाम बना दिया (बाबरनामा, पृ.167)

उसने हिन्दुओं का नरसंहार ही नहीं किया, अनेक हिन्दू मंदिरों को नष्ट किया। सम्भल में एक मंदिर गिराकर एक मस्जिद बनवाई, चन्देरी के अनेक मंदिरों को नष्ट किया। उसकी आज्ञा से मीर बक्की ने राम जन्मभूमि पर निर्मित मंदिर को नष्ट कर मस्जिद बनवाई, इसी भांति ग्वालियर के निकट उरबा में अनेक जैन मूर्तियों को नष्ट किया।

अतः तथ्यों के पूर्ण अभाव में भी चाटुकार तथा छद्मवेशी, सेक्युलरवादी विद्वानों ने बाबर को 'एक सेक्युलर बादशाह', वामपंथी इतिहासकार ने उसे 'एक महान संस्कृति का देयता' अथवा ब्रिटिश इतिहासकार रशब्रुक विलियम ने उसे 'सोलहवीं शताब्दी का महान सम्राट' कहा है।

बाबर की भांति उसका पुत्र हिमांयू था जो पक्का अफीमची था तथा उसे भी भारत से किंचित मात्र भी लगाव न था। वह छोटी मोटी विजय के पश्चात् जश्न, दावतों तथा विलासिता में डूब जाता था। वह बार-बार ईरान की ओर भागता था। वह जीवन भर लुढ़कता रहा और उसकी मृत्यु भी लुढ़क कर हुई थी।

मुगलों का तीसरा शासक साम्राज्यवादी तथा महत्वाकांक्षी अकबर था जिसने लगभग 50 वर्षों तक भारत पर शासन किया। वी.ए. स्मिथ के अनुसार उसमें 'भारतीय रक्त की एक भी बूंद न थी।' वह अफीम मिली शराब का व्यसनी था तथा नशे में धुत रहता था। (स्मिथ, अकबर द ग्रेट, पृ.16) अबुल फजल के अनुसार उसके हरम में 3000 महिलाएं थीं। उसने अपने संरक्षक बैरम खां की मृत्यु (या हत्या) के पश्चात् गुरु पत्नी से अपना विवाह किया था।

मुस्लिम इतिहासकारों, सेक्युलरवादियों, वामपंथियों तथा ब्रिटिश इतिहासकारों ने अपने अपने धार्मिक तथा राजनैतिक स्वार्थ के लिए उसका वर्णन भी एक पक्षीय तथा भ्रामक किया है। धार्मिक दृष्टि से वह एक चतुर

महत्वाकांक्षी था। वह स्वयं पैगम्बर तथा विश्व सम्राट बनना चाहता था। उसकी इबादत खाने की स्थापना, सुलुह-उल-कुल की नीति, मजहर की घोषणा, तारीखे-ए-इलाही (ईश्वर का कैलेण्डर) को चलाना, दीन इलाही की स्थापना किसी भी भांति उदारवादी कृत्य न थे बल्कि मजहब तथा राजनीति का दुरुपयोग थे। दीन इलाही उसके राजनैतिक स्टंट से अधिक कुछ नहीं था।

उसका लगाव मुख्यतः कंधार जीतने का रहता था तथा वह अपने पूर्वजों की भूमि समरकन्द का स्मरण करता रहता था। साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा से वशीभूत हो, उसने तैमूरलंग की भांति नृशंस, क्रूर तथा छलकपट से आक्रमण करने में जरा भी हिचक न की। विशेषकर हेमचन्द्र विक्रमादित्य (हेमू), महारानी दुर्गावती तथा महाराणा प्रताप के साथ युद्ध उसके कलंकित चरित्र को सामने लाते हैं। अकबर की इस क्रूर साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विरोध विश्व प्रसिद्ध वामपंथी विद्वान डॉ. रामविलास शर्मा ने भी कटु भाषा में किया है। (देखें-इतिहास दर्शन)

विचारणीय विषय है कि भारतीय राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व कौन करता है? वामपंथी इतिहासकारों का 'राष्ट्रीय अकबर' या देशाभिमान पर बलिदान होने वाली दुर्गावती जैसी वीरांगना। भारतीय स्वतंत्रता के लिए संघर्षकर्ता, हेमचन्द्र विक्रमादित्य अथवा जंगलों में भटकने वाला महाराणा प्रताप? क्या भारत का राष्ट्रीय पुरुष अकबर था जितने छलकपट से गोंडवाना की रानी पर अकारण आक्रमण कर दिया अथवा वह रानी जिसने राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर, शत्रु द्वारा पकड़े जाने व अपमानित होने की आशंका से स्वयं छुरा घोंप कर बलिदान दिया। क्या राष्ट्रीय शासक अकबर है या भारतीय स्वतंत्रता के लिए मर मिटने वाला हेमू जैसा साहसी जिसने विदेशी शासन को उखाड़ने तथा दिल्ली पर स्वदेशी शासन पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया तथा इसमें क्षणिक सफलता भी प्राप्त की। क्या राष्ट्र का प्रेरक 30,000 हिन्दुओं का संहार करने वाला अकबर है या महाराणा प्रताप का संघर्षमय जीवन, जिसने मुगलों की अजेय सेनाओं को नष्ट कर दिया था। उल्लेखनीय है कि तत्कालीन भारत की किसी भाषा के किसी भी लेखक ने अकबर की प्रशंसा में एक भी काव्य पंक्ति नहीं, कहीं न कहीं एक भी वाक्य लिखा। कुम्भनदास, तुलसीदास, रहीम यहां तक कि तत्कालीन कवि आदा ने उसकी आलोचना की तथा महाराणा प्रताप की प्रशंसा? वर्तमान में भी भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में एक भी व्यक्ति ऐसा न मिलेगा जो भ्रमवश कहे 'राष्ट्रीय' अकबर की जय बोलता हो' अथवा 'अराष्ट्रीय' महाराणा प्रताप के प्रति सम्मान तथा श्रद्धा व्यक्त न करता हो।

अकबर का पुत्र जहांगीर अगला मुगल शासक था। अकबर के इस बिगड़ैल पुत्र, जहांगीर ने स्वयं लिखा कि वह प्रतिदिन बीस प्याले शराब पीता था। वह भी अपने पूर्वजों की भूमि को न भूला था। पर उसने आक्रमण कर कंधार भी गवां दिया था। उसने जैन तथा सिक्ख गुरुओं को अत्यधिक कष्ट दिये थे।

शाहजहां सुरा, सुन्दरी का भूखा था। उसने भी अपने पूर्वजों की भूमि जीतने के लिए मध्य एशिया जीतने के लिए 12 करोड़ रूपया खर्च किया अपार जनराशि व्यय की, पर एक इंच भी भूमि प्राप्त न की थी, उसने भारत को दारुल इस्लाम बनाने के लिए अनेक मंदिरों को ध्वंस किया था।

इसी भांति शाहजहां की मजहबी कट्टरता तथा असहिष्णुता ने औरंगजेब की एक घृणास्पद प्रतिक्रियावादी शासन पद्धति को जन्म दिया। वामपंथियों ने राष्ट्रीय पुरुष शिवाजी तथा गुरु गोविन्द के प्रति भी भ्रम पैदा किया। यद्यपि जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ने शिवाजी के जन्म को एक महान संघर्ष तथा तपस्या का परिणाम बताया है। वामपंथी इतिहासकार शिवाजी को भी औरंगजेब की तुलना में राष्ट्रीय नहीं मानते बल्कि उनके महासंघर्ष को देश के साथ जोड़ना भी उन्हें लज्जा आती है बल्कि इस सन्दर्भ में वे सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी जस्टिस रानाडे, पं. मदन मोहन मालवीय, आर. सी. दत्त व लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक को भी नहीं बख्शाते। (देखें, रोमिला थापर, हरबन्स मुखिया व विपिन चन्द्र, कम्युनिलिज्म एण्ड द राइटिंग्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री, नई दिल्ली 1977 पृ. 58) इन वामपंथियों के बिलकुल विपरीत विश्वविख्यात इतिहासकार जदुनाथ सरकार ने लिखा, शिवाजी जैसा सच्चा नेता सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक अद्वितीय देन है (देखें, शिवजी एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 450) इसी भांति इन इतिहासकारों ने सिक्ख पंथ के नवे तथा दसवें गुरु तेग बहादुर तथा गुरु गोविंद सिंह के बारे में मनमाने तर्क दिये। दोनों गुरुओं ने भारत की धर्म तथा संस्कृति के लिए बलिदान दिये। दोनों भारत के राष्ट्र पुरुष थे, सैकड़ों मंदिरों के नष्ट करने वाले, 'हजारों को जबरदस्ती धर्मांतरण करने वाले को औरंगजेब को, 'जिंदा पीर' कभी भी नहीं कहा जा सकता। गुरु गोविन्द सिंह ने समस्त समाज को बिना किसी भेदभाव के भयमुक्त तथा निस्वार्थ भावना से ओत प्रोत किया। उनका संघर्ष कोई व्यक्तिगत प्रतिष्ठा या भूमि के विस्तार के लिए न था बल्कि स्वदेश की रक्षा तथा स्वधर्म की स्वतंत्रता के लिए था। उनकी खालसा पंथ की स्थापना, सम्पूर्ण राष्ट्र को नवजीवन देने की संजीवनी बूटी थी।

यहां यह बताना आवश्यक होगा कि सेक्युलरवादी तथा वामपंथी इतिहासकारों के प्रभाव तथा राजनैतिक क्षुद्र आकांक्षाओं से वशीभूत सरकार

द्वारा प्रस्तावित पाठ्यपुस्तकों (एनसीइआरटी) में से महाराणा प्रताप का नाम बिलकुल हटा दिया है। शिवाजी का वर्णन केवल डेढ़ लाइन में ही है वह भी नकारात्मक। गुरु गोविंद का वर्णन कुछ पंक्तियों में दिया गया है।

निष्कर्ष रूप में यह कहना सर्वथा उचित होगा कि इन अभागीय आक्रमणकारी शासकों को बिना तथ्यों के राष्ट्रीयता की गरिमा से मंड़ित करना सर्वथा अनुचित, देश घातक है। साथ ही यह भी सत्य है कि राणा सांगा, हेमचन्द्र विक्रमादित्य, महाराणा प्रताप, शिवाजी तथा गुरु गोविंद सिंह जैसे राष्ट्रभक्तों तथा महाबलिदानों को कोई भारतीय कभी भी भूल नहीं सकता।

### भारतीय इतिहास का काल विभाजन : एक काल्पनिक कुचेष्टा

इतिहास एक सतत काल प्रवाह होता है। भारत का इतिहास हिन्दुओं की जय-पराजय का सतत इतिहास है। परन्तु ब्रिटिश इतिहासकारों तथा प्रशासकों ने इसके प्राकृतिक काल प्रवाह को मनमाने ढंग से मोड़ देने का प्रयास किया। इस दिशा में प्रथम ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकार तथा ईस्ट इंडिया के कर्मचारी जेम्स मिल (1773-1836) ने पहला प्रयास किया। उसने भारत के इतिहास को तीन निश्चित कालों में विभाजित किया। उसने 1817 ई. में अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया' लिखी जो पुस्तक तीन खण्डों में तथा लगभग 6000 पृष्ठों में है। उसने भारतीय इतिहास को 'हिन्दूकाल', मुस्लिम काल तथा ब्रिटिश काल में रखा। तीसरे काल को 'ब्रिटिश काल' इसलिए कहा ताकि समस्त ईसाई जगत की सहानुभूति प्राप्त करने में सुविधा हो, ताकि भविष्य में भारत को एक ईसाई देश बनाया जा सके।

यह उल्लेखनीय है कि जेम्स मिल भारत का इतिहास लिखने के लिए कभी भारत न आया था। वह न ही भारत की किसी भाषा से परिचित था और न ही वह अपने जीवन में किसी भारतीय से प्रत्यक्ष मिला था। इसके साथ ही वह अपनी इस अज्ञानता को अपने अधिक निष्पक्ष होने का प्रमाण मानता है। उसे इस बात का जरा भी दुःख न था कि उसने अपने ग्रंथ की रचना के लिए भारत के प्रामाणिक ग्रंथों, ऐतिहासिक साधनों या पुरातत्व सामग्री देखने का कोई कष्ट नहीं किया है। उसका समस्त विवरण मूल ग्रंथों पर आधारित न होकर कुछ यात्रा विवरणों, संस्मरणों, कुछ भारतीय ग्रंथों के अंग्रेजी अनुवादों तथा दूसरी श्रेणी के सामान्य ग्रंथों पर आधारित है। संक्षेप में जेम्स मिल इसे इतिहासकार के रूप में अपनी कोई कमी नहीं, बल्कि वरदान समझता था।

इस तथ्यहीन मिथ्या तथा कपोल कल्पित भारतीय इतिहास के काल विभाजन के पीछे उसका सोचा समझा धूर्ततापूर्ण षड्यंत्र था। उसने अपने ग्रंथ की भूमिका में इस लेखन को सैद्धांतिक आधार देने का प्रयत्न किया तथा तत्कालीन इंग्लैण्ड तथा यूरोप में अपने गुरु तथा मित्र जैरोमी बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धांत के अनुकूल बताया। उसने भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की पूरे जोश से वकालत की तथा इसे भारतीयों के लिए अत्यन्त हितकारी बतलाया। तथ्य की कसौटी पर मिल का उपरोक्त कथन सर्वथा अविश्वसनीय तथा अमान्य है। उसके समक्ष केवल कम्पनी की उपयोगिता महत्वपूर्ण थी न कि भारतीयों का किंचित भी कोई हित।

जेम्स मिल के इस ग्रंथ तथा काल विभाजन के पीछे भारत में कम्पनी के शासन की वैधता का औचित्य बताना था। वह चाहता था कि भारतीय इतिहास का अध्ययन इस ढंग से किया जाए कि भारतीय कम्पनी की निपुणता तथा उपयुक्तता को स्वीकार करे। साथ ही उसने भारतीय इतिहास को इस तरीके से रखा कि भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति ऊंचे नस्ल होने का भाव जागृत हो तथा भारतीयों में हीन भावना पैदा हो। इसके लिए उसने ईसाई पादरियों के कथनों, तथा समय समय पर ब्रिटिश संसद में हिन्दुओं के सन्दर्भ में घृणास्पद टिप्पणियों को आधार बनाया। उसने विश्व की महानता तथा सर्वोच्च सभ्यताओं में प्राचीन यूनान तथा आधुनिक यूरोप की सभ्यता को बतलाया। मुसलमानों की सभ्यता को दूसरी श्रेणी का कहा तथा हिन्दुओं की संस्कृति तथा सभ्यता को विश्व की निकृष्टतम सभ्यता तथा संस्कृति बतलाया। उसने हिन्दुओं को बर्बर तथा निरंकुश कहा। उसने हिन्दू को हीन तथा असभ्य करने के लिए एक छोटी सी पुस्तिका "आर्टिकल्स ऑन हिन्दू" लिखी जिसमें लगभग 39 भद्दी गालियां दीं।

पाश्चात्य जगत में सामान्यतः समाज का विभाजन तीन कार्यकालों में विभाजित किया गया है। सामान्यतः इसे प्रीमीटिव, मध्य तथा आधुनिक काल मानते हैं। प्रीमीटिव काल 500 वर्ष ई. पूर्व से 500 ई. तक अर्थात् एक हजार साल का मानते हैं। मध्यकाल को 500 ई. से 1500 ई. तक अर्थात् एक हजार साल का मानते हैं तथा इससे आगे के काल को आधुनिक काल पुकारते हैं।

सामान्यतः ब्रिटिश अथवा यूरोपीय इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास को काल विभाजन में यही दृष्टि अपनाई, बल्कि उन्होंने भारत के वर्तमान काल को भी यूरोप के मध्य काल का भाग बतलाया।

भारतीय संदर्भ में जेम्स मिल का काल विभाजन पूर्णतः कृत्रिम, अवैज्ञानिक, भ्रमपूर्ण, तर्कहीन, असंगत तथा पूर्वग्रसित धारणाओं पर आधारित है। विश्व के इतिहास में किसी भी देश के इतिहास का मनमाना काल

विभाजन नहीं किया गया। यहां तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस काल विभाजन को न ही बुद्धिपरक और न ही सही बतलाया तथा इसे कपट तथा गलत दृश्य प्रस्तुत करने वाला बतलाया। भारतीय इतिहास का तीन भागों में काल विभाजन मुख्यतः राजनैतिक प्रेरित साम्राज्यवादी विचार तथा सत्ता एवं अहंकार का परिचायक है।

इस कपट तथा षड्यंत्रकारी काल विभाजन के दूरगामी परिणाम हुए। प्रथम, इसके द्वारा भारत इतिहास के अखण्ड काल प्रवाह को अवरुद्ध करने का प्रयास हुआ। यह भारत के निरंतर काल प्रवाह तथा लम्बी तथा अविरल चली आ रही परम्पराओं, सामाजिक संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं को तोड़ने का प्रयत्न था। दूसरे, इसके द्वारा भारत के विभिन्न समुदायों में अलगाव तथा विभेदकारी प्रवृत्तियों को बढ़ाया गया। तीसरे, अंग्रेजों ने इस काल विभाजन के माध्यम से ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। चौथे, इसके द्वारा हिन्दुओं में हीन भावना का भाव पैदा करने तथा उनके आत्मविश्वास की भावना कम की। पांचवे, इसके माध्यम से भारतीयों को उनके गौरवपूर्ण अतीत से अलग करने तथा उनमें आत्म विस्मृति को बढ़ाया। छठे, उपरोक्त काल विभाजन भारत के अंग्रेजी पढ़े लिखों को विशेषकर भ्रमित किया जिसका शिकार स्वतंत्रता के पश्चात भी अनेक नागरिक हैं।

जेम्स मिल के इस काल विभाजन से व्यक्तिगत रूप से उसे बड़ा आर्थिक लाभ तथा पदोन्नति हो गई। इतना ही उसके पुत्र जान स्टुअर्ट मिल की भी नौकरी ईस्ट इंडिया में लग गई। जिसने कम्पनी के शासन को बचाने के लिए 1857 ई. में अंतिम दम तक असफल प्रयास किया तथा इसके बाद भारत में सीधे ब्रिटिश प्रशासन प्रारम्भ हुआ।

कुछ भी हो, जेम्स मिल का भारतीय इतिहास का यह काल विभाजन आने वाले सभी ब्रिटिश प्रशासकों का मार्गदर्शक बन गया। यही पाठ्यक्रम तथा वर्गीकरण 19 वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास का भाग बन गया। माउन्टस्टुअर्ट एलीफिन्स्टन ने अपनी दोनों प्रसिद्ध रचनाओं 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया द हिन्दूज एण्ड मोहम्मतन पीरियड्स' (1841) तथा 'राइज ऑफ ब्रिटिश पावर इन द ईस्ट' (1841) को इसी आधार पर लिखा। 20 वीं शताब्दी में वी.ए. स्मिथ ने 'द आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (1919) में भी इसी विभाजन को मान्यता दी। उसने अपने ग्रंथ में इन तीन भागों के अलावा एक भाग और बढ़ा दिया जिसे 'प्राचीन काल' का नाम दिया। अर्थात् अब इतिहास में प्राचीन काल, हिन्दू काल, मुस्लिम काल तथा आधुनिक काल हो गये। इतिहासकार एच.एच. डाडवैल ने 'द केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया' (1932) का

भी यही वर्गीकरण किया।

भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात भी व्यवहार में ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा काल विभाजन प्रचलित है। कहने के लिए अब भारतीय इतिहास को प्राचीन, मध्यकाल तथा आधुनिक काल में बांटा गया है। प्राचीन, काल को मुख्यतः सिकन्दर के आक्रमण से, मध्यकाल को मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से तथा आधुनिक काल को वास्कोडिगामा की घुसपैठ से माना जाता है। संक्षेप में शरीर बदला परन्तु आत्मा वही है।

वास्तव में प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर वी. राघवाचार्य का इस सन्दर्भ में कथन सत्य है कि अंग्रेजों की 'यह शरारत पूर्ण विसंगति भारतीयों को विभाजित रखने का योजनाबद्ध प्रयास था।'

### **1857 के महासमर का स्वरूप : सैनिक विद्रोह**

1857 का महासमर न केवल भारत अपितु विश्व को एक अद्भुत, आश्चर्यजनक तथा बेजोड़ घटना है। इस महासंघर्ष को भारत के इतिहास की एक गौरवमयी युगान्तकारी घटना कहा गया है। विश्व के इतिहास में अथवा किसी भी यूरोपीय समाज के इतिहास में इससे पूर्व इतना प्रबल विरोध कभी नहीं हुआ था (देखें विलियम डेलरिम्पल, 'द लास्ट मुगल' (पेनगुइन, 2006) इसकी फ्रांस की क्रांति या अमेरिका के स्वतंत्रता युद्ध से करना बेमानी होगा।

यह संघर्ष विश्व के सबसे विशाल ब्रिटेन साम्राज्य के विरुद्ध भारत की पहली राष्ट्रव्यापी चुनौती थी। यह संघर्ष ब्रिटेन की आगामी 'बृहतर ब्रिटेन' भारत को ईसाई देश बनाने तथा भारत का स्थायी निवास बनाने के विरुद्ध कड़ी चुनौती थी। यह संघर्ष एक ही दिन में 20-30 स्थानों पर सशस्त्र हुआ जो 12 महीनों तक निरंतर चला था। इस संघर्ष में अनुमानतः तीन से पांच लाख भारतीय सैनिकों तथा नागरिकों का बलिदान हुआ था। हजारों गांव मिट्टी का ढेर तथा सैकड़ों किले खण्डहर बना दिये गए थे। यह संघर्ष ब्रिटिश सेना द्वारा भयंकर लूटमार (Wholesale plunder) के लिए भी जाना जाता है। वस्तुतः यह संघर्ष भारतीय इतिहास में एक परिवर्तनकारी बिन्दु तथा आधुनिक राष्ट्रवाद की आधारशिला है। यह संघर्ष भारतीय राष्ट्रीयता का एक ऐसा अग्रगामी अध्याय था जिसने आगामी भारतीय राष्ट्रवाद आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया। इस संघर्ष को ईस्ट इंडिया कम्पनी के अपराधों तथा अत्याचारों की शताब्दी (1757-1857) कह कर अपमानित एवं राष्ट्रीय असंतोष की संगठित अभिव्यक्ति कहा जा सकता है।

निःसंदेह इस महासंघर्ष ने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया तथा ब्रिटिश संसद में बैठे सदस्यों, गिरजाघरों में बपस्तिमा करने वाले

पादरियों तथा ब्रिटिश सामान्य जनता की नींद हराम कर दी। समूचे ब्रिटिश साम्राज्य में खलबली मच गई। 9 जून 1857 को लार्ड ऐलनबरो ने हाउस ऑफ लाडर्स में तथा लार्ड डिजरैली ने 29 जून 1857 को हाउस आफ कामन्स में इसे 'महान विपत्ति' (देखें हन्सर्डड, तृतीय सीरीज cxlvi जून-जुलाई की कार्यवाही 1857) बतलाया। पुनः 27 जुलाई को इसे राष्ट्रीय विद्रोह भी कहा गया। विगदल के प्रमुख विचारक तथा भारत में रहे पहले ब्रिटिश कानूनी सदस्य लार्ड मैकाले ने इसे आत्मा को 'सर्वाधिक कचोटने वाली घटना' बतलाया तथा कहा कि जीवन भर किसी भी घटना से इतना विचलित न हुआ जितना इससे। उसने इस दुख में अपना 57 वां जन्म दिवस भी नहीं मनाया। अनेकों ने इसे महान दुखद घटना माना है। वस्तुतः सम्पूर्ण इंग्लैण्ड इस महान संघर्ष से थर्रा गया तथा उन्हें अपने अस्तित्व को खतरा लगा। 7 अक्टूबर 1857 को सम्पूर्ण इंग्लैण्ड में नेशनल डे ऑफ ह्यूमीलेशन एण्ड प्रेयर (National day of humiliation and prayer) मनाया गया। महारानी विक्टोरिया ने अपने 18 अगस्त 1857 के पत्र में तत्कालीन अवस्था को नाजुक तथा अत्यधिक विनाशकारी (देखें, 'द लैटर्स ऑफ क्वीन विक्टोरिया, भाग तीन, पत्र प्रधानमंत्री पार्मस्टन को) बतलाया।

1857 के इस महासमर को जानने के लिए यद्यपि सैकड़ों ऐतिहासिक रचनायें, व्यक्तिगत संस्मरण, पत्र व्यवहार, डायरियां, पैम्पलैट तथा तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में अनेक लेख प्राप्त हैं। परन्तु भारतीय ऐतिहासिक ग्रंथों के अभाव में ऐतिहासिक सच्चाईयों पर पर्दा पड़ा रहा। यह कटु सत्य है कि भारतीय स्रोत अत्याधिक सीमित अथवा नगण्य मात्र हैं। सामान्यतः इस समय के प्रबुद्ध वर्ग ने इसमें सक्रिय भूमिका नहीं अपनाई। कुछ हिन्दू तथा मुसलमानों ने इस महासमर के पश्चात् अंग्रेजों का यशोगान अवश्य किया। इसमें मिर्जा गालिब, जफाउलाह देहलवी, सर सैयद अहमद खां, शिव प्रसाद 'सितारे हिन्द' आदि प्रमुख हैं।

अधिकतर ब्रिटिश इतिहासकारों तथा अन्य लेखकों ने अपनी राष्ट्रीय सरकार, ब्रिटिश राजसत्ता तथा ब्रिटिश उपनिवेशों में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए इसे 'सैनिक विद्रोह' माना है। कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड, लंदन, आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका के विद्वानों ने ब्रिटिश साम्राज्य का समर्थन किया। सैनिक विद्रोह बताने वाले मुख्य ब्रिटिश अधिकारियों तथा इतिहासकारों में सर जान डब्ल्यू केयी (1814-1876), जी. बी. मैलीशन (1825-1895) तथा जान लारेंस प्रसिद्ध हैं। केयी उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी के राजनैतिक तथा गुप्त विभाग का सचिव था। केयी ने अपना ग्रंथ 'ए हिस्ट्री ऑफ द सिपाही वार इन इंडिया', तीनों भागों में प्रकाशित की। जी. बी. मैलीशन महासमर के समय कोलकाता में ही था। उसने दो पुस्तकें 'रैड पैम्पलेट' (दो



भागों में) तथा 'हिस्ट्री ऑफ द इंडियन म्युटनी', तीन भागों में लिखी। पंजाब के तत्कालीन चीफ जान लारेंस ने इसे देशव्यापी विद्रोह कहा। तत्कालीन भारतीयों मुंशी जीवनलाल, मुईनउद्दीन (दिल्ली), दुर्गादास बन्दोपाध्याय (बरेली) तथा सर सैयद अहमद खां (जो इस समय बिजनौर में थे) इसे सैनिक विद्रोह स्वीकार किया है। अधिकतर ब्रिटिश लेखकों ने इसे सैनिक विद्रोह कहे जाने की परम्परा को वर्तमान तक बनाये रखा। डब्ल्यू म्योर ने इसे सैनिक विद्रोह बताते समय इसे सरकार व सेना के बीच बतलाया न कि सरकार और जनता के बीच (रिकार्ड्स ऑफ द इन्टेलिजेन्स डिपार्टमेंट ऑफ द नार्थ प्रोविन्सज डयूरिंग द म्यूनी, लंदन, 1902 पृ. 3139) चार्ल्स रैक्स ने इसे सैनिक विद्रोह कहा जिसने कुछ भागों में जन विद्रोह का रूप ले लिया था। देखे, नोट्स ऑफ द रिवोल्ट इन द नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सज आफ इंडिया लंदन (1858)। सर जान शीले ने इसे एक स्वार्थ पूर्ण सैनिक विद्रोह बतलाया। फील्ड मार्शल सर इवेलिन वुड ने जिसने स्वयं युद्ध में भाग लिया था इसे म्युटनी तथा रिवोल्ट दोनों बताया। (द रिवोल्ट ऑफ हिन्दुस्तान (1857-59) लन्दन 1908 पृ. 23)। वी.ए. स्मिथ ने इस मूलतः सैनिक विद्रोह, पी. ई. रार्बट्स ने शुद्ध रूप से सैनिक विद्रोह, जे.टी.व्हीलर तथा आर्थर डी. इंग्लिश ने इसे सैनिक विद्रोह ही माना है।

परन्तु कुछ गिने चुने ब्रिटिश विद्वानों ने इसे सिपाही विद्रोह कहने पर अनेक प्रश्नों की झड़ी भी लगाई। इसमें थामस लॉ तथा लंदन टाइम्स के तत्कालीन संवाददाता डब्ल्यू एच रिसेल है। संवाददाता ने पूछा कि यदि यह केवल सिपाही विद्रोह होता तो देश की जनता तथा प्रजा पर क्यों जुर्माने या फांसी दी गई। (देखे माई डायरिज इन इंडिया, (1860 भाग दो, पृ. 259) आधुनिक इतिहासकार लेखिका डॉ. जूडिश ब्राउन तथा मि. जी. एफ. हचिन्स ने ब्रिटिश व्यवस्था तथा अंग्रेजी साम्राज्य के पक्षपात पूर्ण रवैये की कटु आलोचना की है। संक्षेप में प्रमाणों के अभाव में आज यह ब्रिटिश साम्राज्यवादी मनगढन्त तथा भ्रामक थ्योरी अर्थहीन हो गई है।

दूसरे, कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने 1857 के महासमर को 'मुसलमानों का षडयंत्र' बतलाया है। इसमें उल्लेखनीय सर जेम्स ओटरम तथा विलियम टेलर है। ओटरम का मत है कि मुसलमानों ने हिन्दुओं की शिकायतों का लाभ उठाया। टेलर ने इसे हिन्दुओं तथा मुसलमानों का षडयंत्र बतलाया। सर अल्फ्रेड लायल ने इसे व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर मुस्लिम षडयंत्र माना। डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर ने इसके पीछे जेहाद की भावना बतलाई। टी. आर. मैटकाफ ने इसे मुस्लिम षडयंत्र कहा। ब्रिटिश इतिहासकार इस थ्योरी को गढ़ने में सफल न हो सके। सम्भवतः मुस्लिम षडयंत्र की थ्योरी दिल्ली के बादशाह जफर के मुकदमे के दौरान गढ़ी गई थी ताकि उनके

कुकृत्यों पर पर्दा पड़ा रहे। इससे पूर्व किसी अंग्रेज ने भी मुस्लिम बगावत का वर्णन नहीं किया है।

तीसरे, कुछ विद्वानों ने 1857 के महान समर को एक सामन्तवादी प्रतिक्रिया बताया। लार्ड डलहौजी ने गोद लेने की प्रथा का निषेध कर अनेक राज्यों को कम्पनी के राज्य में विलय कर लिया था। रजवाड़ों में असन्तोष होना स्वाभाविक था। कुछ विद्वानों ने इनकी परम्परागत तथा स्वाभाविक मांगों को उचित न मानकर स्वार्थमूलक बताया। इस संघर्ष में सामंती या रजवाड़ों से जोड़नेमें कार्ल मार्क्स के लेख प्रमुख कहे जाते हैं। उनके इन संघर्षों पर लेख एक पुस्तक के रूप में 'द फर्स्ट इंडियन वार ऑफ इंडिपेंडेंस' के नाम से 1959 में मास्को से प्रकाशित हुई। पर कोई भी लेख शीर्षक के अनुरूप नहीं है। उसने प्रायः प्रत्येक लेख में 'भारतीय विद्रोह' या 'स्वतंत्रता के संघर्षकर्ताओं को विद्रोही' बताया है। इसमें कार्ल मार्क्स, अंग्रेजों के विरुद्ध प्रत्येक घटना से विचलित हो जाता है। उसके अनुरूप सोवियत विद्वानों का मानना है कि इसे असफल होने का कारण इसका नेतृत्व-रजवाड़ों का नेतृत्व होना था। वामपंथी इतिहासकारों ने सामान्यतः इसके अनुकूल 1857 के संघर्ष का वर्णन किया है। प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार परसीवल स्पीयर ने इसे 'पुरातनवादी भारत का अंतिम प्रयास बतलाया है' (देखे, इंडिया : ए मार्डन हिस्ट्री, 1961) पंडित जवाहरलाल नेहरू इस संघर्ष में सर्वाधिक भावना सामन्तवादी सरदारों तथा उनके अनुयायियों की मानते हैं।

इसी भांति कुछ विद्वानों ने इसे 'ईसाई विरोधी' कहा। एल.ई.आर रीज विद्वान ने इसे धर्माधों का ईसाइयों के विरुद्ध युद्ध बतलाया। इसमें यह कहना गलत न होगा कि अंग्रेजों द्वारा भारत को ईसाई देश बनाने के विरुद्ध यह प्रमुख मुद्दा रहा। कम्पनी के सभी अधिकारी विभिन्न स्तरों पर भारत में ईसाईकरण का प्रयास कर रहे थे। कम्पनी के इस ईसाई समर्थक तथा भारतीय धर्म विरोधी भावना का चहुँ ओर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। परन्तु कुछ विद्वानों ने ईसाई विरोधी, भारतीय भावनाओं को एक स्वार्थमूलक उद्देश्य बनाकर धूर्ततापूर्ण प्रयास किया। केयी ने इसे 'श्वेतों के विरुद्ध काले लोगों का संघर्ष' बतलाया। जे. जी. मीडलों ने भी ऐसा ही कहा। व्हीलर ने इस संघर्ष को 'ऐशियाई स्वभाव का परिचायक बतलाया'। टी. आर. होम्स ने इसे व्यापक अर्थ प्रदान कर इसे 'सभ्यता तथा बर्बरता के बीच संघर्ष' बताया। इतिहासकारों के उपरोक्त कथन तथ्य रहित, पर भावात्मक है। इससे यूरोपियन जनमानस के समर्थन प्राप्त करने का एक प्रयास मात्र कहा जा सकता है।

भारतीय विद्वानों में सर्वप्रथम विनायक दामोदर सावरकर ने इस 'राष्ट्रीय विद्रोह को 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता का प्रथम संग्राम' कहा। बाद में पट्टाभि

सीतारमैया, अशोक मेहता ने इसे भारत का महान आन्दोलन माना। कुछ भी हो 1857 का संघर्ष भारत की भावी चेतना तथा ब्रिटिश प्रशासकों के लिए एक 'भूत' बन गया। इसे इसकी मूल प्रेरणा को धार्मिक, सामाजिक, जागरण के रूप में स्वामी दयानन्द, बंकिम चट्टोपाध्याय तथा महर्षि अरविन्द ने आगे बढ़ाया। गांधी जी के आन्दोलनों को ब्रिटिश शासकों ने उसकी तुलना 1857 से करनी प्रारम्भ की।

परन्तु आज भी अनेक इतिहासकार ब्रिटिश इतिहासकारों की भ्रामक तथा निराधार भ्रांतियों के शिकार हैं। परन्तु सभी तथ्यों तथा प्रमाणों के आधार पर इसके स्वरूप को भारत का प्रथम स्वातंत्र्य समर कहना उपयुक्त होगा। इससे संघर्ष विफल नहीं, बल्कि देश की आजादी का संघर्ष आरम्भ हुआ।

### भारत एक राष्ट्र या उपमहाद्वीप ?

यह सर्वमान्य है कि देश एक भौगोलिक शब्द, राज्य एक राजनैतिक संरचना तथा राष्ट्र एक भावात्मक अभिव्यक्ति है। प्राचीन काल से भारत एक विस्तृत देश, विभिन्न प्रकार के राज्यों का समूह तथा एक सबल तथा संगठित राष्ट्र रहा है। राष्ट्र की अवधारणा : मुख्यतः समान जन, समान भाषा, समान परम्परा, धर्म, दर्शन, भूमि तथा संस्कृति से की जाती है। समान परम्परा तथा समान आकांक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। प्राचीन काल से भारतीयों ने, भारत को मातृभूमि तथा भारतीय जनों को इसके पुत्र तथा भूमि के प्रति एकात्मक संबंधों को सर्वाधिक महत्व दिया है। धर्म को राष्ट्र की आत्मा कहा है। संस्कृत को राष्ट्रवाणी कहा है। भौगोलिक तथा सांस्कृतिक एकता को राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण तत्व माना है।

अंग्रेज, यूरोप के एक छोटे से देश से व्यापारी के रूप में भारत आये। उन्होंने भारत के कुछ भू-भाग पर ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा राज्य स्थापित किया। अपनी राजनीतिक सत्ता बनाए रखने के लिए अनर्गल तथा भ्रामक शब्दावली का प्रयोग किया। भारत जैसे विशाल देश एवं राष्ट्र को देखकर ब्रिटिश इतिहासकारों ने कभी इसे उपमहाद्वीप तथा कभी महाद्वीप कहा। जान मेलकाम नामक इतिहासकार ने 1812 ई. में इसे एक उपमहाद्वीप कहा तथा इसमें राजपूत, मराठे तथा सिख आदि अलग-अलग राष्ट्र बतलाए। माउंटस्टुअर्ट एलीफिंस्टन ने 1841 ई. में इसे एक उपमहाद्वीप कहा तथा इसे दस राष्ट्रों का समूह बतलाया। प्रसिद्ध ब्रिटिश सुधारक जान ब्राइट ने ब्रिटिश संसद में 1852 ई. में इसे बीस राष्ट्रों का समूह कहा क्योंकि उसके अनुसार भारत में बीस भाषायें बोली जाती थीं।

यहां यह बताना नितांत आवश्यक होगा कि इंग्लैण्ड के विद्वान अपने

आपको आधुनिक राष्ट्रवाद का मूल प्रारम्भकर्ता मानते हैं। उनका कहना है कि यूरोप में 16 वीं शताब्दी में राष्ट्रवाद का जन्म इंग्लैण्ड में ही हुआ। इसके पश्चात वे फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल तथा डेनमार्क में इसका निर्माण मानते हैं। अधिकतर यूरोपीय देशों में राष्ट्रवाद की स्थापना फ्रांस की क्रांति तथा नेपोलियन युद्धों के पश्चात 1815 ई. में वियना सम्मेलन तथा उसके परस्पर समझौतों के फलस्वरूप मानते हैं। इटली तथा जर्मनी में इसकी स्थापना सामान्यतः 1871 ई. में इनके अपने अपने देश के एकीकरण से हुई। औद्योगिक क्रांति तथा व्यापारिक संबंधों ने इसे बढ़ावा दिया।

ब्रिटिश विद्वानों ने भारतीय राष्ट्रवाद अथवा भारत राष्ट्र के बारे में सदैव भ्रामक स्थिति को बनाये रखा। उन्होंने न कभी भारत की प्राचीनता, राष्ट्रीयता का विचार किया न उसकी मूल अवधारणाओं की। उन्होंने पाश्चात्य तथा राजनैतिक साम्राज्यवादी ढांचे एवं मूल तत्वों के आधार भी उसका आकलन किया। ब्रिटिश इतिहासकारों के अनुसार भारत में न कभी राष्ट्रवाद का विचार ही था और न ही कभी राष्ट्रीय भावनाएं ही थीं।

कम्पनी राज की समाप्ति तथा भारत में सीधे ब्रिटिश राज स्थापित हो जाने पर ब्रिटिश लेखकों तथा प्रशासकों ने भारत राष्ट्र के बारे में अपनी शब्दावली बदली। प्रशासकीय तथा राजनैतिक महत्वाकांक्षों तथा भारतीयों में हीन भावना तथा राष्ट्रीय आत्मविस्मृति हेतु राष्ट्रीयता की एक नवीन अवधारणा गढ़ डाली। अब उन्होंने यह भ्रम फैलाया कि भारत कभी राष्ट्र था ही नहीं। डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर को इस भ्रामक धारणा का जनक कहा जा सकता है। उसने इस विवादास्पद तथा काल्पनिक अवधारणा को जन्म दिया कि भारत कभी एक राष्ट्र नहीं रहा बल्कि अंग्रेजों की मदद से एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया (A nation in process) में है। उसने इस मनगढ़ंत सिद्धांत में प्राचीन भारत का काल्पनिक तथा झूठा चित्र भी प्रस्तुत किया। उसने भारत भूमि को मानव विहीन बताया। यूरोप में प्रचलित प्रीमीटिव काल (500 वर्ष ई.पू. से 500 ई. तक का काल) की भांति प्राचीन भारत को अशांति तथा अन्धकारमय काल बताया। उसके अनुसार हिन्दुत्व धार्मिक तथा सामाजिक आधार पर भारतीय समुदायों को संगठित करने तथा एक राष्ट्र के रूप में जोड़ने में असफल रहा।

सर जान स्ट्रेची जो तत्कालीन भारत सरकार में वित्त सदस्य था, 1884 ई. कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में एक भाषण माला में कहा, 'भारत के बारे में बहुत आवश्यक तथ्य जानने योग्य वस्तु है कि कोई भारत है ही नहीं और न कभी था। यूरोपीय चिन्तन के अनुसार किसी प्रकार की भौतिक, राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक एकता न है। न भारतीय राष्ट्र, न ही भारत के लोग हैं जैसा कि हम सुनते हैं।' उसके अनुसार भारत में कभी एक राष्ट्रीयता के

विकास की सम्भावना न थी। सर अल्फ्रेड लायल एवं कैम्ब्रज के प्रो. जान शीले ने भी लगभग इस प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए भारत में राष्ट्रीयता का पूर्ण अभाव माना है। 1909 ई. में ब्रिटिश संसद के दोनों भवनों में भारत की ब्रिटिश सरकार ने एक स्मृति पत्र प्रस्तुत करते हुए कहा 'भारत एक अकेला देश नहीं बल्कि अनेक देशों का समूह है।'

यह विचारणीय है कि ए.ओ. हयूम जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक थे, भारत देश तथा राष्ट्र के संदर्भ में उपरोक्त भ्रमपूर्ण किन्तु उद्देश्यपूर्ण चिंतन के समर्थक थे। उसकी प्रेरणा से कांग्रेस के अनेक नेताओं ने 'भारत एक राष्ट्र बन रहा है' इस भ्रामक धारणा को स्वीकार किया। हेनरी काटन जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष रहे, राष्ट्र के संदर्भ में इस पाश्चात्य कल्पना को स्वीकार किया। उन्होंने अपनी पुस्तक (न्यू इंडिया इन ट्रांजिशन, पृ. 53) में यह माना कि भारत में एक नये राष्ट्र का उदय हो रहा है। कांग्रेस के एक अन्य भारतीय कांग्रेस अध्यक्ष श्री ए. सी. मजूमदार ने अपनी पुस्तक का नाम ही 'इंडियन नेशनल इव्युलुशन' रखा। सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी ने अपनी आत्मकथा का नाम ही 'ऐ नेशन इन मेकिंग' रखा। कालान्तर में पं. नेहरू ने अपनी पुस्तक 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया' लिखी।

पाकिस्तानी इतिहासकार सैयद सैफुद्दीन पीरजादा का मत है कि सर सैयद अहमद खां, पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने अपने काल में भारत को एक महाद्वीप कहा (फाउन्डेशन ऑफ पाकिस्तान पृ. 18) सर सैयद अहमद ने 1888 ई. के मेरठ में अपने भाषण में भारत में दो राष्ट्रों की बात कही तथा कांग्रेस को हिन्दुओं की संस्था कहना शुरू किया। 1927 के पश्चात भारत में 'एक बनते हुए राष्ट्र' के स्थान पर दो राष्ट्रों की बात कही जाने लगी। मोहम्मद इकबाल, कैम्ब्रज के चार मुस्लिम छात्रों, चौधरी रहमत अली, असमद खां, शेख मोहम्मद सादिक व इनायत उल्ला खां तथा बाद में मोहम्मद अली जिन्ना ने भारत राष्ट्रवाद को अस्वीकार किया तथा इसे कुरान के विपरीत बतलाया। अन्ततोगत्वा कांग्रेस ने द्विराष्ट्रवाद के सिद्धांत की स्वीकृति दी तथा भारत का विभाजन हुआ। 1971 ई. में पुनः बंगला देश के एक और राष्ट्र का जन्म हुआ। अंग्रेजों का यह कथन भी भारत एक राष्ट्र बन रहा है पुनः धोखा तथा भ्रामक साबित हुआ।

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात अंग्रेजों ने पुनः अपनी शब्दावली को पुनः पलटी दी तथा पुराना राग अलापना शुरू किया कि भारत एक उपमहाद्वीप है। अब इस शब्द से चिढ़ नव निर्मित पाकिस्तान तथा चीन को हुई। विशेषकर पाकिस्तान को भारत महाद्वीप या भारत उपद्वीप के साथ 'भारत' शब्द उसे परेशान करने लगा।

अतः पाकिस्तानी क्षेत्रों में उन्हें भारत के विरुद्ध एक साधन मिल गया। कुछ ने इसे पाकिस्तान उपमहाद्वीप, कुछ ने इण्डो-पाक उपमहाद्वीप तथा कुछ ने इसे साउथ एशिया उपमहाद्वीप कहना शुरू किया। पाकिस्तान का विदेश विभाग इसे साउथ एशिया उपमहाद्वीप या केवल उपमहाद्वीप कह कर सहमत है। परन्तु पाकिस्तानी इतिहासकार इसे भारत-उपमहाद्वीप कहने को राजी नहीं है। पाकिस्तानी इतिहासकारों प्रो. अहमद हसन दानी, प्रो. खुर्शीद कमाल अजीज व प्रो. असलम सैयद आदि को उपमहाद्वीप के साथ भारत शब्द लगा होने से बेचैनी रही है। पाकिस्तान की भांति चीन भी अपनी विस्तारवादी नीति के कारण इस शब्द से नाखुश है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से ब्रिटिश इतिहासकारों तथा लेखकों के भ्रामक चिंतन का भारत राष्ट्र के बदलते स्वरो से उनकी क्षुद्र मानसिकता का तथा कांग्रेस के द्वारा उसके अनुकरण से उनके भी राजनीतिक भटकाव का सहज रूप से पता चलता है। यह स्पष्ट है कि भारत की राष्ट्रीय एकता का आधार इसकी भौगोलिक तथा सांस्कृतिक चेतना तथा एकता रही। यह कभी भी राष्ट्रों का समूह नहीं रहा। समय-समय पर आन्तरिक राजनीतिक उथल पुथल होती रही, परन्तु सभी ने भारत को एक राष्ट्र माना। राष्ट्र की आत्मा इसका व्यापक धर्म तथा आध्यात्मिक भाव रहा और इसी भाव को उसने 'विश्व बंधुत्व' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के उदांत विचारों से विश्व को प्रेरित किया।

### **बांटो और राज्य करो की नीति : एक धूर्तता पूर्ण योजना**

यद्यपि यह कहना कठिन है कि इस नीति का मूलतः कौन जनक था। आधुनिक काल में कुछ इसे पुर्तगालियों, जर्मनवासियों तथा ब्रिटिश प्रशासकों को प्रारम्भकर्ता मानते हैं। यूरोप में जहां प्रिंस बिस्मार्क को यूरोप के राष्ट्रों को परस्पर लड़वाने में अदभुत सफलता मिली, वहां यह भारत, एशिया में अंग्रेजों के लिए वरदान साबित हुई। ब्रिटिश इतिहासकारों तथा प्रशासकों ने भारत से ब्रिटिश शासन को सुदृढ़, सुरक्षित तथा निरंतर बनाये रखने के लिए भारतीयों को परस्पर अलगाव तथा टकराव की नीति अपनाई। उन्होंने एक समुदाय को दूसरे समुदाय से, एक प्रांत को दूसरे प्रांत से, एक जाति को दूसरी जाति से, उत्तर भारत को दक्षिण भारत से, एक भाषा के लोगों को दूसरी भाषा के लोगों से न केवल राजनीतिक बल्कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से अलग तथा एक दूसरे के विपरीत बताया। ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास में परस्पर जोड़ने वाली कड़ियों को जान बूझकर छोड़ दिया। इसकी सफलता के लिए उन्होंने भारतीय इतिहास को चिर पुरातन काल से लेकर वर्तमान तक बिना किसी प्रमाण या तथ्यों के अनेक मनगढ़न्त तथा विसंगतियों से परिपूर्ण किया। इससे कालान्तर में भारतीयों में भी आत्मविस्मृति की तथा हीनता की

भावना पैदा हुई।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने बिना किसी ठोस आधार या प्रमाण के भारत देश को प्रारम्भिक अवस्था में मानवहीन बतलाया। कुछ काल बाद यहां पर जनजाति या जनजातियों अथवा आदिवासी की कल्पना गढ़ डाली। इसे यूरोपीय तर्ज पर भारत की प्रीमीटीव जाति कहा तथा उन्हें 'धरती पुत्र' कहा। शीघ्र ही इन जातियों का आर्यों से संघर्ष तथा परस्पर युद्ध का काल्पनिक वर्णन किया। डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर के अनुसार आक्रमणकारी आर्यों ने इन्हें पहला अपना शत्रु, बाद में एक अपशकुन, इसके बाद एक निम्न श्रेणी का जानवर तथा अन्त में उच्च वर्ग के गुलाम के रूप में माना। उन्होंने दोनों में न केवल रंग का अंतर बताया बल्कि भाषा और धर्म का भी। एक दूसरे ब्रिटिश इतिहासकार टालबोयेज व्हीलर ने हण्टर की भांति आर्यों से पूर्व मूल निवासियों का वर्णन करते हुए उन्हें राक्षस, असुर, दस्यु या दैत्य बतलाया। उन्हें भूत, मानव भक्षी तथा उनके राज्यों को सर्प राज्य भी बतलाया। उन्होंने शूद्रों का संबंध प्राचीन काल के मिश्र के किसी वंश से बताया।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने उपरोक्त प्रारंभिक जन जातियों पर आर्यों के आक्रमण की मनगढन्त रचना रची। 1866 ई. में ब्रिटिश रायल ऐशियाटिक सोसायटी ने आर्यों के इस भारत पर मिथ्या आक्रमण के प्रस्ताव पारित कर, भारत में आर्यों के मध्य ऐशिया से आकर यहां की जनजातियों को दक्षिण की ओर खदेड़कर, पंजाब और इसके ऊपर गंगा की घाटी की ओर, इनके आधिपत्य का विस्तारवादी आक्रमण का वर्णन किया। अंग्रेजों ने इन कपोल कल्पित घटनाओं के माध्यम से आर्य-द्रविड विवाद को जन्म दिया तथा उत्तर तथा दक्षिण भारतीय के बीच परस्पर संघर्षों को प्रश्रय दिया। यद्यपि 18 वीं शताब्दी तक किसी भी ग्रंथ में इन काल्पनिक आर्यों के आक्रमण का कही वर्णन नहीं है।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में विभेदकारी योजना को कूटनीति ढंग से आगे बढ़ाया। सामान्यतः अनेक ब्रिटिश इतिहासवेत्ताओं ने भारत के इतिहास में दक्षिण भारत के इतिहास को उपेक्षित तथा ओझल कर दिया। उदाहरणतः प्रसिद्ध वी.ए. स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में केवल दक्षिण भारत के इतिहास पर कुल दस पृष्ठ दिये तथा उसने वहां की घटनाओं को 'स्थानीय हितों की बातें' कहा। उसने उत्तर दक्षिण भारत के संबंधों का वर्णन करते हुए उन्हें रक्त संबंध से अलग बताया और यह भी कहा कि पहले भारत के इन दोनों भागों में कोई संचार व्यवस्था न थी। इसी तरह से ब्रिटिश पादरी काल्डवैल ने उत्तर दक्षिण के भाषा के आधार पर भेद बताये। वस्तुतः यह

अलगाव तथा विभाजन पूर्णतः आधारहीन, खोखला तथा पूर्वाग्रहों से ग्रसित है। अनेक भारत के प्रबुद्ध इतिहासकारों ने इन आधारहीन रचनाओं का अविवेकी तथा तथ्य रहित बतलाया। इतिहासकार सी. पी. वैद्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ मेडिवल इंडिया' (पूना, 1926) में स्पष्ट रूप से लिखा कि भारत में उत्तर तथा दक्षिण भारत के अटूट संबंध रहे जिन्हें भारतीय संस्कृति के स्वरूप के आधार पर बतलाया जा सकता है। दक्षिण भारत के एक दूसरे इतिहास दिग्गज नीलकंठ शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'फैक्टर्स इन इंडियन हिस्ट्री' (पृ. 9) में तर्कपूर्ण तथा उदाहरण देकर बतलाया कि कैसे उत्तर तथा दक्षिण भारत में सतत संघर्षों में संयुक्त भाग लिया।

इतना ही नहीं ब्रिटिश प्रशासकों ने बाँटो और राज्य करो कि नीति का अनुकरण अपने विभिन्न प्रांतों अथवा प्रशासकीय क्षेत्रों के लोगों के चरित्र तथा गुणों के आधार पर भी किया। जहां ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकार जेम्स मिल ने सभी भारतीयों को 'घृणा' की दृष्टि से देखा, वहीं लार्ड मैकाले ने भारतीयों की सभी संस्थाओं तथा क्रियाकलापों तथा रचनाओं को 'बेहूदा' कहा। यहां कुछ उदाहरण देकर इस साम्राज्यवादी नीति का विश्लेषण करना उपयोगी होगा। सामान्य ब्रिटिश प्रांतीय प्रशासकों ने अपने प्रांत के लोगों की अत्याधिक प्रशंसा की तथा वहां के स्थानीय लोगों को 'अच्छा' बतलाया जबकि दूसरे प्रांत के लोगों के चरित्र तथा व्यवहार की कटु तथा घृणास्पद आलोचना की। उदाहरण के लिए कर्नल टाड़ (1782-1835) जिसे राजस्थान के इतिहास लेखकों का जन्मदाता कहा जाता है। उसने राजपूतों को उपयोगी मित्र तथा उसने वहां की राजपूतनियों का 'राखी बंध भाई' कहा है। उसने ब्रिटिश शासकों से कहा है कि उनका संबंध ब्रिटिश राज्य के लिए वैसा हितकारी तथा ब्रिटिश राज्य की सुदृढ़ता के लिए उपयोगी होना चाहिए जैसे सिकंदर ने फारस को जीतने के पश्चात वहां के लोगों किया था या जैसे सम्राट अकबर ने राजपूतों के प्रति नीति अपनाई थी। उसने राजपूतों के प्रति संरक्षण तथा शोषण (A policy of patronization and exploitation) को अपनाने का सुझाव दिया अपने राजपूतों की वीरता तथा शौर्य की प्रशंसा की। परन्तु उसने मराठों का चित्रण अत्यन्त वीभत्सपूर्ण तथा अपमान जनक किया। इसके विपरीत ग्रांट डफ (1784-1858) में अपना ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ मराठाज, तीन भागों में (1826) में लिखी। उसने मराठों की बड़ी प्रशंसा की तथा राजपूतों का सर्वथा अयोग्य (Invalid) कहा। जान मेलकाम (1789-1833) तथा जे. डी. कर्निघम (1812-1851) ने सिक्खों की बड़ी प्रशंसा तथा शेष की कटु आलोचना की। लार्ड मैकाले ने मराठों को 'धूर्त' तथा डाकू लिखा। इसी भांति मेलकाम ने मराठों को पेशेवर डाकू कहा। मैकालिफ ने सिक्खों की वन्दना की परन्तु हिन्दुओं की कटु आलोचना की। संक्षेप में अंग्रेजों ने भारत में

ब्रिटिश साम्राज्य की एकता तथा सुदृढ़ता का दावा किया, परन्तु उन्होंने अपने ही द्वारा शासित प्रांतों के लोगों को इस ढंग से रखने का प्रयत्न किया मानों एक दूसरे के हितों में परस्पर टकराव है तथा वे अलग-अलग राष्ट्र हैं।

अंग्रेजी शासन को भारत में सुदृढ़ बनाने तथा इसके बनाये रखने में सबसे बड़ी अड़चन थी यहां की हिन्दुओं की बढ़ती हुई जनसंख्या। उनके लिए समस्या थी परस्पर हिन्दुओं को आपस में बाँटना। इसके लिए उसने भारत की विभिन्न जातियों तथा धार्मिक सम्प्रदायों तथा विभिन्न प्रदेशों में रहने वालों को अपना निशाना बनाया। ब्रिटिश इतिहासकारों ने हिन्दुओं को कभी अनेक जातियों का 'अजायबघर' तो कभी 'अनेक जातियों उपजातियों का पिण्ड' कहा। किसी ने हिन्दुओं को ऐसा 'अजगर' बतलाया जो सभी को अपने चंगुल में कस लेता है।

ब्रिटिश विद्वानों ने हिन्दुओं के विभिन्न अंगों को एक-एक कर जड़ से उखाड़ने की कोशिश की। सामान्यतः इन लेखकों ने हिन्दू, बौद्ध तथा जैन में एकरूपता होते हुए उनके अलगाव के पहलुओं को बढ़ा चढ़ा कर लिखा। हण्टर ने बौद्ध धर्म को ब्राह्मणवाद या हिन्दू धर्म का विरोधी बताया। जैन मत को भी एक अलग सम्प्रदाय बतलाया। वेलेन्टाइन शिरोल ने इन्हें ब्राह्मणवादी या हिन्दू धर्म के विरुद्ध एक विद्रोह की भावना बताया।

भारत में हिन्दुओं की निरंतर बढ़ती जनसंख्या ब्रिटिश शासन के लिए सदैव खतरा तथा भय का प्रमुख कारण रही। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यह बड़ी चिन्ता व्यक्त की यदि हिन्दू धीरे-धीरे बढ़ते जा रहे हैं तो उनकी संख्या विश्व की एक तिहाई हो गई है। अलगाव के इस प्रयास ने उन्होंने पहले यहां के नगरों तथा ग्रामों में रहने वाले व्यक्तियों के स्थान पर वनों तथा जंगलों में रहने वाली जनजातियों की ओर ध्यान केंद्रित किया। यह प्रक्रिया 1828 से ही प्रारंभ हो गई जब कि जब सर जान विल्सन भारत आया तो उसने मुम्बई में अपने भाषण में कहा कि अब समय आ गया कि हम भारत की जनजातियों का विशेष अध्ययन तथा शोध कार्य करें। उसके बाद ईसाई मिशनरियों द्वारा इस दिशा में सरकारी सहायता से प्रयास हुए। हिस्लेप ने मध्य भारत, स्टीवेशन ने मुम्बई, रोबर्ट काल्डवैल ने तमिलनाडु (तब मद्रास प्रेसीडेंसी) तथा बंगाल में मार्शमैन, जे. लॉग, तथा जान अलैकजेण्डर डफ ने भरसक प्रयत्न किये। 1846 में पादरी जान मिल्लर ने कहा कि वनों तथा जंगलों में रहने वाली जातियां अभी ब्राह्मणों की संस्कृति से बाहर हैं तथा हिन्दू धर्म के दायरे में नहीं हैं। राबर्ट काल्डवैल ने अपने एक तुलनात्मक व्याकरण में आर्य तथा जनजातियों को भिन्न बतलाया। हण्टर ने एक तुलनात्मक विश्लेषण में आर्य तथा जनजाति परम्परा को एक दूसरे का

विरोधी बतलाया। उसने मनगढ़ंत कर 185 अंग्रेज शब्दों को जनजाति में प्रचलित बोलियों में 134 को समान बतलाया। अंग्रेज इतिहासकारों ने जनजातियों के लिए ईसाईकरण का 'आसान निशाना' बताया तथा सेना में भर्ती के लिए 'सर्वोत्तम कच्ची सामग्री' कहा। अंग्रेजों ने भारत के अनेक जनजातिय क्षेत्रों में हिन्दुओं के जाने के लिए प्रतिबंधित कर दिया।

ब्रिटिश इतिहासकारों ने जनजातियों, बौद्धों, जैन के साथ सिक्ख पंथ को भी हिन्दुओं से बांटने तथा अलग करने का योजनापूर्वक प्रयास किया। उन्होंने सिक्खों का एक अलग राष्ट्र बताया। 1849 में पंजाब जीतने के पश्चात पंजाब के कमिश्नर जान लारेंस (1853-1857) ने सावधानी तथा सतर्कता की नीति अपनाई। 1857 के महासमर के पश्चात् हिन्दुओं तथा सिक्खों को बांट कर राज्य करने का प्रयास तेजी से हुआ। हण्टर ने सिक्ख समुदाय को हिन्दू धर्म का प्रतिवादी बच्चा (**Protesting child of Hinduism**) कहा, उसने गुरुमुखी पढ़ने का आग्रह किया तथा पंजाब में सिक्खों की जनगणना अलग की जाने लगी। एम. ए. मैकालिफ, सर लेपन ग्रिफन ने इस अलगाव को प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया। अंग्रेजों ने सिक्खों को, हिन्दुओं से अलग एक विशिष्ट जातीय पहचान (**Ethnic identity**) की स्वीकृति दी। अंग्रेजों का विश्वास था इस अलगाव से राजनीतिक स्थायित्व आयेगा।

इतना ही नहीं ब्रिटिश विद्वानों ने इस बांटने की नीति के माध्यम से न केवल हिन्दुओं को अन्दर से तोड़ने की कोशिश की बल्कि भारत के दूसरे समुदायों को भी अलग करने का प्रयास किया। 1857 के पश्चात विशेष रूप से उन्होंने हिन्दुओं तथा मुस्लिम समुदायों में अलगाव तथा टकराव को बढ़ाया। पहले उन्होंने मुसलमानों के प्रति घृणा की नीति अपनाई। दिल्ली की जामा मस्जिद और फतेहपुरी मस्जिद मुसलमानों की नमाज़ के लिए बंद कर दी गई जिसे बाद में नमाज के लिए खोला गया। सर अल्फ्रेड लायल के अनुसार ब्रिटिश, मुसलमानों का अपना दुश्मन मानने लगे थे। अंग्रेजों का व्यवहार उनके प्रति सन्देह तथा दमन का रहा। भारत के एक पूर्व गवर्नर-जनरल लार्ड एलनबरो ने बांटो और राज्य करो की नीति का समर्थन करते हुए कहा था, 'मैं इस विश्वास से आंखें नहीं मूंद सकता कि यह कौम (मुस्लिम) मूलतः हमारी दुश्मन है और इसलिए हमारी सच्ची नीति हिन्दुओं से मित्रता की है। 1870 तक अंग्रेजों तथा मुसलमानों में कटुता रही। साथ ही हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अलग रखने के प्रयास भी चलते रहे। अलगाव की यह नीति लंदन में ब्रिटिश अधिकारी से लेकर कोलकाता तथा दिल्ली में वायसराय भवन तक चलती रही तथा भारत में इसकी सबसे छोटी इकाई डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट तक बनी रही। प्रारंभ में उन्होंने मुसलमानों को

खलनायक माना। अपना खतरनाक विरोधी बताया।

1870-71 में अंग्रेज शासकों की सोच में बदलाव आया। लार्ड मेयो ने मुसलमानों के साथ संबंध सुधारने की कोशिश की। इतिहासकार डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर ने, कोलकाता के मुस्लिम कॉलेज के प्रिंसिपल बलाचमैन की सहायता से 'द इंडियन मुसलमान्स' नामक पुस्तक केवल तेरह दिनों में लिख डाली। इसमें उसने मुसलमानों की वकालत की तथा उनके प्रति उदारनीति का समर्थन किया। शीघ्र ही ब्रिटिश प्रशासक मुस्लिम समर्थक तथा हिन्दुओं के प्रति कठोर होते गए। लार्ड डफरिन (1884-1888) ने भारत में मुसलमानों का पांच करोड़ का एक राष्ट्र बतलाया, साथ ही उन्हें 'शक्तिशाली' कहा। लैफ्टीनेंट गर्वनर फूलर ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अपनी दो पत्नियां बतलाया जिसमें मुस्लिम पत्नी को ज्यादा प्रिय बतलाया।

इसके साथ ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी अंग्रेजों की योजनाओं तथा झूठे वायदों से प्रभावित हो मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति अपनाई। कांग्रेस ने इस प्रकार के इतिहास लिखने को प्रेरित किया कि समस्त मुगलकाल में हिन्दू मुस्लिम संबंध बड़े सौहार्द बने रहे। हिन्दू, मुस्लिम काल में एक केवल एक प्रजा मात्र न थे बल्कि एक अच्छे बड़े भाई थे। उन्होंने अंग्रेजी राज्य को पहला विदेशी आक्रमण मानने को कहा। डॉ. ताराचन्द के शोध के इसी प्रकार के प्रयास थे। इस तरह के विचारों के प्रसार के लिए कांग्रेस ने एक कमेटी भी गठित की। लाला लाजपतराय ने इस बारे में अपने विचार 'यंग इंडिया' में दिये हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात अंग्रेजी राज्य के पश्चात कांग्रेस ने अंग्रेजों की इस विरासत को श्रद्धापूर्वक अपनाया तथा मुस्लिम तुष्टीकरण को अपने शासन को बनाये रखने वाली नीति का एक प्रमुख भाग बताया।

### **भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन : जानवरों की लड़ाई ?**

सीधे ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद से ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास की कुछ समस्याओं का निदान करने का प्रयत्न किया। साथ ही उन्होंने अपनी विष बेल से कुछ नये मिथकों तथा भ्रांतियों को जन्म दिया। उन्होंने भारतीय अतीत की व्याख्या से अपने भविष्य के स्वप्नों को साकार करने का प्रयास किया तथा भारतीय इतिहास की मनमानी व्याख्या की। उनका उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन की सुरक्षा, दृढ़ता तथा निरंतरता था जिसके लिए उन्होंने तथ्यहीन तर्क दिये।

सामान्यतः 1858-1947 के दौरान ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत के प्रशासन अथवा संवैधानिक इतिहास का ही वर्णन किया है। उन्होंने समाज

का चिन्तन नहीं किया। जहां कहीं भी आर्थिक पहलू का वर्णन किया वह भी राजनैतिक उपयोग की दृष्टि से। अतः उनके इतिहास लेखन की प्रवृत्ति प्रशासकीय इतिहास की रही। किसी भी ब्रिटिश इतिहासकार ने सामान्यतः भारत की राष्ट्रीय चेतना की उपेक्षा की। उदाहरणतः सर जार्ज चैस्ने ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर केवल दो पृष्ठ लिखे। उसने राष्ट्रीय कांग्रेस को गैर वफादार, पर कम शरारती बतलाया, क्योंकि उसकी कार्यवाही बेहूदी है। उसने कांग्रेस के प्रारंभिक अध्यक्षों को मूर्ख राजनीतिज्ञ बतलाया (इंडियन पालिटी - ए व्यू आफ एडिमिन्ट्रेशन इन इंडिया, तृतीय संस्करण, लंदन 1894, पृ. 385-86)

सर डब्ल्यू डब्ल्यू हण्टर (1840-1900) जो इतिहास में विख्यात विक्टोरियन इतिहासकार माना जाता है। उसने भारत भूमि को 'व्यक्तिहीन' कहा तथा भारतीय जनसंख्या को गैर आर्यन, जनजाति, आर्यन, हिन्दुओं तथा मुसलमानों में बांटा। उसने जाति तथा वंश का आधार महत्वपूर्ण माना। इसी प्रकार सर जान स्ट्रेची ने 1884 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के सम्मुख भाषण में भारत को केवल एक भौगोलिक 'बिन्दुमात्र' माना। इसी भांति सर अल्फ्रेड लायल ने ब्रिटिश शासन का आधार ऐतिहासिक विश्लेषण कर अपने अनुसार बताया।

अतः ब्रिटिश प्रशासकों एवं इतिहासकारों ने अपनी राजनैतिक आकांक्षा पूर्ति हेतु मनमानी व्याख्या की। उन्होंने भारत राष्ट्र, भारतीय राष्ट्रवाद तथा भारत में उठती हुई राष्ट्रीय भावनाओं को ओझल किया। उन्हें भारत में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, बंकिम चट्टोपाध्याय अथवा सांस्कृतिक चेतना का कोई भी स्वर जरा भी सुनाई नहीं दिया। उन्होंने पंजाब में उठते कूका आन्दोलन या 'महाराष्ट्र' में वासुदेव बलवंत फड़के द्वारा किसान आन्दोलन को देखते हुए आंखे मींच ली।

20 वीं शताब्दी के प्रारंभ में ब्रिटिश इतिहासकारों एवं प्रशासकों द्वारा कई ग्रंथों की रचना हुई, परन्तु उनका मुख्य मुद्दा प्रशासन ही रहा। वी. ए. स्मिथ तथा एच. एच. डाडवैल ने जान बूझकर भारत चेतना की अनदेखी की। स्मिथ ने 1919 में 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' लिखी, परन्तु इसमें न भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस न ही कोई क्रांतिकारी गतिविधि या राष्ट्रीय आन्दोलन के बारे में एक भी शब्द है। इसी भांति 1920-37 के दौरान 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया' लिखी गई परन्तु इसमें भारत के क्रांतिकारी आंदोलन का नाम भी नहीं है। इतना ही नहीं, गांधी जी के बारे में केवल तीन पंक्तियाँ हैं और वह भी उनकी राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधियों के बारे में नहीं बल्कि दक्षिण अफ्रीका में बैरिस्टर गांधी के बारे में हैं। 'कैम्ब्रिज शार्टर इतिहास' में जो 1932

में प्रकाशित हुई पुनः गांधी जी पर केवल तीन पंक्तियां हैं परन्तु इसमें उनका नाम भी गलत अर्थात् एम. आर. गांधी दिया गया है।

वलेन्टाईन शिरोल जो इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध पत्र 'टाईम्स' के प्रेस प्रतिनिधि था तथा भारत में 17 बार आया था। भारत के बारे में तीन प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे थे, लेकिन उसका रवैया भी पूर्णतः साम्राज्यवादी रहा। उसने लोकमान्य तिलक को 'भारतीय असन्तोष का जनक' तथा कांग्रेस को, एक हिन्दू संस्था कहा। उसने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को 'अराजकवाद—कहा। सर हेरिंग्टन वर्नोय लावेट (1864—1945) ने अपनी एक गुप्त रिपोर्ट, एक पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन नेशनलिस्ट मुवमेंट' (1919) के रूप में प्रकाशित की जिसमें न केवल जलियांवाला हत्याकाण्ड का समर्थन किया, बल्कि सर माइकेल ओडवायर की प्रशंसा की। इसी भांति गैरिट व थाम्पसन ने भारत को स्वशासन देना अनुचित बताया। कुल मिलाकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्रिटिश इतिहासकारों ने एक पक्षीय एवं पूर्वाग्रहों से ग्रसित इतिहास लिखा। उन्होंने सरकारी नीतियों का समर्थन किया तथा भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं तथा राष्ट्रीय चेतना का जरा भी ध्यान नहीं दिया।

भारत की स्वतंत्रता की घोषणा न केवल भारत बल्कि विश्व के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। नई परिस्थितियों और नये मुद्दों ने इतिहासकारों को भी नई चुनौतियों तथा चेतावनियों को अपनी नई प्रवृत्तियों के साथ अपनाने के लिए ब्रिटिश मुख्यतः कैम्ब्रज विचारधारा के इतिहासकारों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की नई व्याख्याएं दी।

अंग्रेजों ने भारत के स्वतंत्रता संघर्ष को सत्ता का हस्तांतरण (Transfer of power) कहा। इसे अंग्रेजों की ओर से भारत को एक शानदार तोहफा (A fine gift to India) बताया। वे इसे कोई भारतीय राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय चेतना, जन आंदोलन इत्यादि का परिणाम जरा भी नहीं मानते।

विशेषकर कैम्ब्रज इतिहासकारों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने चिंतन का मुख्य विषय बनाया। जान ग्लेघर इस नवीन प्रवृत्ति का मुखिया था। उसने 1953 में अफ्रीका के बारे में एक पुस्तक 'अफ्रीका एण्ड द विक्टोरियस, द आफिशियल माईड आफ इम्पीरियलिज्म' लिखी। इसी ब्रिटिश साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से उसके शिष्यों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की समीक्षा की। यह इतिहासकार भारत की एकता में विश्वास नहीं करते। जान ग्लेघर के एक शिष्य अनील शील ने अपनी पुस्तक में भारत के राष्ट्र आन्दोलन को, 'राष्ट्र' का नहीं बल्कि 'राष्ट्रों' का आन्दोलन कहा। वह भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को क्षेत्रीय प्रभावी वर्ग (Regional Elite)की देन मानता है। वह भारतीय राष्ट्रीयता को

अंग्रेजों की देन मानते हैं। वह इस सन्दर्भ में भारतीय राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय भावनाओं को कोई महत्व नहीं देता। साथ ही वह कांग्रेस की स्थापना को ब्रिटिश शासन की एक 'सेप्टी वाल्व' ही मानता है।

जान ग्लेघर के एक अन्य शिष्य सी.ए. बेयली ने भारत के राष्ट्रवाद को 'व्यक्तिगत स्वार्थों का संयोग' बतलाया। अनील शील के एक शिष्य गोर्डन जानसन ने भारतीय राष्ट्रवाद को 'मिथ्या तथा खोखला' (प्रोविन्सल पालिटिक्स एण्ड इंडियन नेशनलिज्म : बॉम्बे एण्ड द नेशनल कांग्रेस (1880—1915) कैम्ब्रज 1973 पृ. 50) बताया। 1977 में कैम्ब्रज इतिहासकारों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया मोड़ दिया। अब इसे प्रेसीडेन्सी या क्षेत्रीय प्रभावी वर्ग की देन न बताकर स्थानीय हितों, परस्पर के झगड़ों—विवादों तथा स्वार्थों को इसका आधार बतलाया। कई शोध ग्रंथ इसी आशय को लेकर भारत के अलग—अलग प्रांतों पर लिखे गये। गोर्डन जानसन ने मुम्बई में कांग्रेस को 'सरकार के विरुद्ध स्थानीय असंतोष सुनने का एक सुविधाजनक फोरम' बतलाया। वह लोकमान्य तिलक को शक्ति का भूखा तथा शरारतों का निर्माता मानता है। डी. ए. वाशवुड तथा सी. जे. बेकर ने दक्षिण भारत की राजनीति पर लिखा। उन्होंने शक्ति तथा प्रभाव का केन्द्र स्थानीय ग्रामीण स्वामियों से हटाकर पाश्चात्य शिक्षित वर्ग को बताया। दोनों ने अपने—अपने ग्रंथों में परस्पर गुटबाजी, स्वार्थों, अवसरवादिता, षडयंत्रों, छल कपट आदि शब्दों का प्रयोग किया। सी.ए. बैकर ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा के अस्तित्व को एक निम्न धरातल का कहा। उसने यह भी लिखा कि कांग्रेस ने अपने चुनाव प्रचार में धार्मिक नेताओं का प्रयोग किया (द लोकल रूट्स ऑफ इंडियन पालिटिक्स: इलाहाबाद (1880—1920) (आक्सफोर्ड, 1975)। प्रसिद्ध महिला इतिहासकार जूडीथ ब्राउन ने राष्ट्रीय आंदोलन पर तीन पुस्तकें लिखी। उसने भारत के राष्ट्र आन्दोलन को 'लेन देन का खेल' बताया। इतिहासकार बी. आर. टोमिलशन ने लिखा कि भारत में राजनीतिक ढांचा केवल देखने मात्र का नहीं पर वास्तव में था ही नहीं। वह 'परस्पर गुटबाजी' का विस्तृत वर्णन करता है।

1986 में कैम्ब्रज इतिहासकारों ने अध्ययन को पुनः नया मोड़ देने का प्रयत्न किया। उन्होंने न्यू कैम्ब्रज हिस्ट्री आफ इंडिया लिखने की योजना बनाई जिसमें 1600—1947 ई. तक के भारतीय इतिहास को 32 छोटी—छोटी पुस्तिकाओं में बांटा जो प्रत्येक 200 पृष्ठों को होगी। इन पुस्तकों के लेखन में सार अथवा निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु कुछ नये साधनों को प्रकाश में अवश्य लाया गया।

अध्ययन के लिए प्रायः नेमियर पद्धति का अनुसरण करते हुए

असंतुलित तथा अतार्किक ढंग से देश के अनेक नेताओं का व्यक्तिगत चरित्र हनन किया। उदाहरण के लिए गांधी जी को एक 'धूर्त', तिलक को 'विवादी तथा जातिवादी', लाजपतराय को 'एक राजनैतिक गिरगिट', सी. आर. दास को 'भारतीय राजनीति में शानदार अवसरवादी', एस. सी. बोस को ओछा तथा दुर्जनों का नायक, रामस्वामी अय्यर को 'नौकरी का इच्छुक' तथा बी. सी. राय को 'एक गुटबाज', बताया।

संक्षेप में ब्रिटिश इतिहासकारों ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को संभ्रात व्यक्तियों के भौतिक लाभ का प्रयास मात्र बतलाया। उनके अनुसार इसके पीछे भारतीयों का कोई विचार या चिंतन न था। तपन राय चौधरी के अनुसार अंग्रेज इतिहासकारों के लिए भारतीयों का यह संघर्ष 'जानवरों की लड़ाई' थी (देखे, लेख 'इंडिया नेशनलिज्म ऐज अनिमल पोलिटिक्स, द हिस्टोरिकल जनरल 22,3 (1979) पृ. 747-63)

प्रश्न यही है कि ब्रिटिश इतिहासकारों के इस भ्रामक प्रचार तथा मिथक को विश्व तथा भारत में क्या कोई स्वीकार करेगा?

उपरोक्त विशिष्ट भ्रामिक तथा विसंगतिपूर्ण सूची के आधार पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश इतिहासकार तथाकथित सेकुलर लेखकों द्वारा अधिकतर इतिहास पूर्वाग्रहों से ग्रसित, गलत तथ्यों पर आधारित तथा पूर्णतः व्यक्ति परक है। भारत के इतिहासकारों तथा विद्वानों को चाहिए कि इतिहास को तथ्यों के आधार पर लिखें। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात इतिहास को औपनिवेशिक अथवा यूरोपीय केन्द्रित चिंतन के स्थान पर भारतीय चिंतन दृष्टि (stand point) से मूल्यांकन करें। भारतीय इतिहास को उसे अपनी जड़ों को निहारने तथा जानने की दृष्टि से लिखें। भौतिक प्रगति के साथ भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्ष का भी चित्रण करें।

इतिहास तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। सत्य कितना भी कटु हो, यहां तक की अपमानजनक भी हो, तो स्वीकार करना चाहिए। प्रो. रमेशचन्द्र मजूमदार का मार्गदर्शक कथन सही है, 'इतिहास सत्य, कुछ नहीं बल्कि सत्य, पूर्ण सत्य पर आधारित होना चाहिए, उस पर ही इतिहास का मजबूत ढांचा किया जा सकता है। भारतीय इतिहास के अध्ययन के लिए भारतीय साधनों की खोज तथा उसका सदुपयोग होना चाहिए।